व्याख्यानत्रयी

डॉ. बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'

प्रकाशक :

अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्

हजरतगंज, लखनऊ

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

व्याख्यानत्रयी

प्रो. बच्चू लाल अवस्थी 'ज्ञान'

अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्
महात्मा गाँधी मार्ग, हजरतगंज
लखनऊ – 226 001

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

प्रकाशक :
अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्
महात्मा गाँधी मार्ग, हज़रतगञ्ज
लखनऊ – 226 001
फोन – 223962

© अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्, लखनऊ

प्रथम संस्करण
वर्ष 2002

मूल्य – रु. 45.00

मुद्रक :
पनार आफसेट
इन्द्रा अनुष्ठान
गुईन रोड, अमीनाबाद
लखनऊ
फोन : 213565, 223757

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

Publishers' Note

It was with the inspiration and guidance of the Late Shri Gopal Chandra Sinha, Founder-Secretary of the Akhila Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow that the two Lecture Series were started by the Parishad. The one is in memory of its Founder-President, the late Prof. K.A.S. Iyer, an erudite scholar of Sanskrit Language and Literature and the other one in memory of the late Prof. Mangal Deva Shastri, a great scholar of the Vedic Literature. It was decided that these lectures be published in the Ṛtam, the multi-lingual Half-Yearly Research Journal of the Parishad and also separately in the form of books. It is in pursuance of this policy that the three lectures delivered by Prof. Bachchu Lal Avasthi, a scholar of Sanskrit and Hindi in his own right and Former Professor and Head, Department of Hindi, Vikram University, Ujjain, have been published in the columns of the Ṛtam. They are being brought out separately in the form of a book.

The lectures contained herein are entitled as under :

1. उदात्तादि स्वरों का महत्त्व
2. व्याकरण-दर्शन में क्रिया तथा काल
3. सत्ता-महाजाति

Prof. Avasthi is a renowned scholar of Sanskrit and Hindi. He has studied Sanskrit on the traditional lines, but he has developed a critical faculty by his self-study and perseverance. He combines in him the vastness and depth of the traditional learning as well as the critical acumen of the modern method.

The Parishad puts on record its deep sense of gratitude to Professor Avasthi for delivering these lectures under the auspices of the Parishad. I shall be failing in my duty if I do not acknowledge the keen interest evinced by Sri Vishwa Mohan Mehta and his young and energetic son, Mr. Manish Mehta, Proprietor of the Pnar Offset. But for their co-operation, the lectures would not have seen the light of the day.

Rakṣā-bandhan — **A. K. Kalia**
22nd August, 2002 — **Secretary**

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

उदात्तादि स्वरों का महत्त्व

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।

अर्थात् उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित स्वरों से अथवा वर्ण से हीन मन्त्र मिथ्या प्रयुक्त होता है, क्योंकि वह अभीष्ट अर्थ का वाचक नहीं होता है। वह तो वाग्वज्र है, जो यजमान के लिए मारक बनता है। उदाहरणार्थ, स्वरमात्र के अपराध से त्वष्टा द्वारा प्रयुक्त 'इन्द्रशत्रु' पद वृत्र के लिए मारक सिद्ध हुआ था।

इसका इतिवृत्त इस प्रकार है कि त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को इन्द्र ने मार डाला था, जिससे कुद्ध होकर त्वष्टा ने अग्नि में हवन करके यज्ञकुण्ड से पुत्र को उत्पन्न किया और कहा 'इन्द्रशत्रुर्विवर्धस्व'। यहाँ 'इन्द्रशत्रु' शब्द तत्पुरूष समास होने पर अन्तोदात्त – 'इ॒न्द्र॒श॒त्रुः'[1] किन्तु ब्रहुव्रीहि समास होने पर उसकी स्वरसङ्गति बदल जायेगी – 'इ॒न्द्रश॑त्रुः'[2]। यहाँ ज्ञातव्य है कि शत्रु शब्द का अर्थ शातन करने वाला होता है। त्वष्टा द्वारा यदि प्रथम का प्रयोग किया जाता तो उसका अर्थ इन्द्र को मारने वाला होता है, परन्तु वैसा न करके त्वष्टा ने अनवधान में द्वितीय रूप का त्रुटित प्रयोग कर दिया जिससे बहुव्रीहि समास के कारण यह अर्थ हुआ कि इन्द्र जिसका मारने वाला हो। फलतः वृत्र इन्द्र द्वारा मारा गया।

इसी प्रकार एक क्षयशब्द है जिसकी निष्पत्ति 'क्षि क्षये' और 'क्षि निवासे' धातु से होती है। निवास अर्थ में यह शब्द आद्युदात्त रहता है – क्ष॑यः[3]। परन्तु विनाश अर्थ में यह अन्तोदात्त होगा – क्ष॒यः। तात्पर्य यह कि प्रथम आकार पर उदात्तरूप बलाघात होने से इसका निवास अर्थ होगा, परन्तु उसी का अन्तोदात्त उच्चारण करने पर विनाश अर्थ होगा। मार्जन मन्त्र में एक पाद आता है–

यस्य॒ क्षया॑य॒ जिन्व॑थ।

---

1. समासस्य। अष्टाध्यायी, 6.1.223
2. बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्। वही, 6.2.1.1
3. क्षयो निवासे। वही, 6.1.20.1

CC-0. AkhilBharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

यहाँ क्षय शब्द निवासार्थक है, अतः आद्युदात्त रखा गया है। इसका अन्तोदात्त प्रयोग होते ही (क्षयाय) विनाश अर्थ हो जायेगा। कदाचित् इसीलिए यह परम्परा है कि इस मन्त्रभाग का उच्चारण करके शरीर पर जल नहीं डाला जाता है, प्रत्युत पृथ्वी पर फेंक दिया जाता है। यह इसलिए कि इनका यज्ञों में विनियोग होने पर एकश्रुति से काम चलाया जाता है और एकश्रुति में स्वरभेद न रहने से अनर्थ की प्रबल सम्भावना है।

वेदों की रक्षा स्वरों की महत्ता मानकर ही हो सकती है। पाठभेद होते ही स्वरभेद होता है, अत एव वेदों की रक्षा के लिए मुनियों की परम्परा ने संहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ, घनपाठ इत्यादि की व्यवस्था की है। इन विकृति पाठों से संहिता पाठ मूलरूप में सुरक्षित रहता है और उसका मूलरूप त्रैस्वर्य पर प्रतिष्ठित है।

तमग्निमस्ते वसवो न्यृण्वन्[4]

यह संहितापाठ है। इसके पदपाठ को देखा जा सकता है—

तम्। अग्निम्। अस्ते। वसवः। नि। ऋण्वन्।

स्पष्ट है कि पृथक्–पृथक् पदों में स्वर बदल जाते हैं। एतदर्थ स्वरप्रक्रिया का ज्ञान अत्यावश्यक हो जाता है। इसी प्रकार एक दूसरा उदाहरण लिया जा सकता है—

अग्निमीळे पुरोहितम्।

यहाँ संहितापाठ में 'अग्निमीळे' का स्वरूप त्रैस्वर्य में क्रमशः अनुदात्त, उदात्त, स्वरित और एकश्रुति से बनता है। इसी को 'ईळेऽग्निम्' कर दिया जाय तो ईकार उदात्त, एकार अनुदात्त और इकार उदात्त रहेगा। अलग–अलग करने पर 'अग्निम् ईळे' रूप बनेगा।

इस स्वर सङ्गति के देखने से स्पष्ट हो जाता है कि सहस्राब्दियों से वेदों के मूल की रक्षा के लिए स्थायी प्रयास किये गये हैं। वैदिक ऋषि जानते थे कि—

मूले नष्टे नैव शाखा न पत्रम्।

अतः मूल की रक्षा परमावश्यक मानी गयी है।

आज देशकाल में परिवर्तन आ जाने से एक ही मनुष्य से यह आशा करना कि वह मूलपाठ की भी रक्षा करे, सभी विकृतिपाठों को आत्मसात् रखे और सभी वेदाङ्गों के अनुसार अर्थ समझे, असम्भव है। आज पश्चिम के प्रभाव से रॉथ, मैक्समूलर आदि की गोद में बैठकर वेदपाठ का तत्त्व न जानने वाले लोग यह जल्प करते हुए पाये जाते हैं कि वेद पढ़ने वालों को अर्थ जानना चाहिये। वे यह जानने का प्रयास नहीं करते हैं कि जिनको मूल की रक्षा का भार दिया गया है उनसे ही विविध भाष्यों के अध्ययन की अपेक्षा करना असङ्गत है। उनकी बात मानकर चला जाये तो वेदों के प्रकृति–विकृति–पाठ सुरक्षित नहीं रह सकते हैं। विविध वेदाङ्गों में एक ही मन्त्र के अर्थभेद पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ—

---

4. ऋग्वेद, 7.1.2.1

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आविवेश[5]।।

इस मन्त्र का सीधा अर्थ तो इतना ही है कि एक महान् देव ने मनुष्यों में आवेश किया है जिसके चार सींगें, तीन पैर, दो सिर और सात हाथ हैं। तीन प्रकार से बँधा हुआ यह वृषभ उच्च शब्द करता रहता है।

यहाँ निरूक्त के अनुसार चार वेदों को चार सींग, तीन सवनों को पाद, प्रायणीय–उदयनीय यज्ञाङ्गों को दो सिर, सात छन्दों–गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप और जगती को सात हाथ कहा गया है और मन्त्र, ब्राह्मण तथा कल्प द्वारा वह बद्ध है। यही यज्ञरूप महान् देव है। महाभाष्यकार ने प्रकारान्तर से अर्थ किया है, जो व्याकरणवेदाङ्ग के अनुरूप है–

> चत्वारि शृङ्गणि। चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्ग–निपाताश्च। त्रयो अस्य पादाः त्रयः काला भूतभविष्यवर्तमानाः। द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। सप्त हस्तासो अस्य सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्धः त्रिषु स्थानेषु बद्धः। उरसि कण्ठे शिरसीति। वृषभो वर्षणात्। रोरवीति शब्दं करोति। कुत एतत्। रौतिः शब्दकर्मा। महो देवो मर्त्यां आविवेशेति। महान् देवः शब्दः। मर्त्या मरण-धर्माणो मनुष्याः। तानाविवेश।[6]

अर्थात् नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात–चार प्रकार के पद हैं, यही मन्त्र में चार शृङ्ग हैं। भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान काल तीन चरण हैं। नित्य और कार्य शब्दस्वरूप ही दो सिर हैं। सात विभक्तियाँ ही सात हाथ हैं। उर, कण्ठ और शीर्ष में वह शब्द त्रिधा बद्ध रहता है। वही महान् देव शब्द, सभी मरणधर्मा मनुष्यों में आवेश करता है।

स्पष्ट है कि इस सन्दर्भ में निरूक्त तथा व्याकरण वेदाङ्गों के अनुसार एक ही मन्त्र का अर्थगत अन्तर है, परन्तु मूलपाठ वर्णों और स्वरों से सङ्घटित होकर एक ही रहता है। राजशेखर ने अपनी **काव्यमीमांसा** में इस मन्त्र को काव्यपुरूष की स्तुति के रूप में लिया है।[7] स्वरों के बिना वर्णों का यथावत् स्वरूप नहीं बन पाता है। अत एव शिक्षाग्रन्थों में उदात्तादि स्वरकृत, मात्रारूप कालकृत और उर आदि स्थानकृत वर्णभेद बताये गये हैं। उदात्तादि स्वरों के बिना वेद को श्रुतिरूप में लिखा नहीं जा सकता है, यही त्रैस्वर्य की महिमा है। निरूक्त में एक और मन्त्र लिया गया है–

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति।
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति[8]।

---

5. ऋ., 3.8.10.1
6. *Critical Studies in the Mahābhāṣya*, P. 353
7. काव्यमीमांसा, 1.3.1
8. ऋ. 2. 3. 22; अथर्व 9. 25. 27

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

अर्थात् सम्पूर्ण वाणी के चार पद माने गये हैं, जिन्हें वेदज्ञ विद्वान् जानते हैं। उनमें तीन पद गुहा में अन्तर्हित रहते हुए अप्रकाश रहते हैं। सभी मनुष्य चतुर्थ पद का ही व्यवहार करते हैं। निरूक्त[9] में अनेक मत दिये गये हैं–

1. ओंकार तथा भूः, भुवः, स्वः–इन महाव्याहृतियों को ऋषियों के मत में चार पद माना गया है।

2. वैयाकरणों ने नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात को चार पद कहा है।

3. याज्ञिक लोगों के मत में मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण तथा व्यावहारिक भाषा चार पद हैं।

4. नैरूक्तों के मत में ऋक्, यजुस्, साम और व्यावहारिक भेद से चार पद बनते हैं।

5. कुछ ऐतिहासिकों का मत है कि सर्प, पक्षी, सरीसृप और व्यावहारिक भेद से पद बनते हैं।

6. कुछ आत्मवादी लोग पशु, तृणव (तृणादि), मृग तथा मानवात्मा में चतुर्विधता मानते हैं।

तात्पर्य यह है कि एक ही मूल वेदवाक्य अनेकधा अर्थ लेता है। एक ही वेदपाठी पर सारा भार, आज के युग में, नहीं डाला जा सकता है। निरूक्तकार ने यद्यपि कहा है–

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत्
अधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।।[10]

अर्थात् यह तो केवल अचेतन भार ढोने वाला हो गया है, जो वेद पढ़कर अर्थ नहीं जानता है। जो अर्थज्ञ है वही सम्पूर्ण कल्याण का भागी होता है, उसके ज्ञान से सभी पाप तिरोहित हो जाते हैं और वह आत्यन्तिक सुखरूप स्वर्ग प्राप्त करता है।

निस्सन्देह इस उक्ति में वेदाध्ययन प्रथम है। अध्ययन के पश्चात् अर्थ का ज्ञान होने पर सम्पूर्ण फल की प्राप्ति बतायी गयी है। अध्ययन प्रथम है, सम्पूर्ण फल पाने के लिए अर्थज्ञान आवश्यक है, परन्तु शिक्षाग्रन्थों में सस्वर पाठ को प्राथमिकता दी गयी है। उसके बिना अर्थ तक पहुँचना असम्भव है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्दशास्त्र और ज्योतिष वेदाङ्ग हैं। इनके अनुसार सर्वत्र अर्थभेद पाया जायेगा। अतः अर्थ पर बल देने का तात्पर्य यह हुआ कि त्रैस्वर्य को तिलाञ्जलि देकर स्वर–रहित पाठ का आधुनिक परिवेश में मनमाना अर्थ किया जाय, जो सर्वथा स्वच्छन्दतावाद की कोटि में आता है। पाठ तो प्रथम कल्प है। घनान्तपाठी होने के लिए ही आज के कोलाहलमय जीवन में आयुर्दाय का एक तिहाई भाग आवश्यक हो गया है।

---

9. निरूक्त, 3.13.1.9

10. वही, 1.6.18

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

कर्म-काण्ड में केवल अर्थ को महत्त्व देना और शब्द को सर्वथा गौण बना देना मान्य नहीं रहा है, क्योंकि यज्ञादि में जिन मन्त्रों का विनियोग होता है उन के पाठ—मात्र से जो कम्पनाङ्क या तरङ्ग बनते हैं वे ही वहाँ सर्वस्व माने गये हैं। यही कारण है कि याज्ञवल्क्य ने उच्चारण पर ही विशेष बल देते हुए कहा है—

> सममुच्चारयेद् वर्णान् हस्तेन च मुखेन च।
> स्वरश्चैव तु हस्तश्च द्वावेतौ युगपत् स्थितौ
> हस्तभ्रष्टः स्वरभ्रष्टो न वेदफलमश्नुते।।[11]

अर्थात् मुख और हस्त दोनों से वर्णों का उच्चारण करना चाहिये। मुख से निकलने वाला स्वर और उसका अनुवाद करने वाले हाथ में से किसी का भ्रंश करने वाला वेद—फल का भागी नहीं होता है।

स्पष्ट है कि अर्थज्ञान के आवश्यक होने पर भी त्रैस्वर्य के ज्ञान को यहाँ प्राथमिकता दी गयी है। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने आगे कहा है—

> ज्ञातव्यश्च तथैवार्थो वेदानां कर्मसिद्धये।
> पठन्मात्रापपाठात् तु पङ्के गौरिव सीदति।।[12]

अर्थात् वेदों के कर्म की सिद्धि के लिए अर्थज्ञान आवश्यक है, परन्तु केवल अपपाठ करते हुए पाठ करने वाला कीचड़ में फँसी हुई गाय के समान दुःख का भागी होता है। यह स्वर—प्रक्रिया केवल स्वरवर्णों के साथ ही नहीं है, स्वरों के त्रैस्वर्य से व्यञ्जनों का भी त्रैस्वर्य माना गया है।

> स्वर उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव च।
> स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यं व्यञ्जनं तेन सस्वरम्।।
> व्यञ्जनान्यनुवर्तन्ते यत्र तिष्ठति स स्वरः।
> स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यमाचार्याः प्रवदन्ति हि।।[13]

उच्च अथवा उदात्त, नीच अथवा अनुदात्त और स्वरित इन स्वरों के अनुसार व्यञ्जन भी सस्वर हो जाते हैं। (त्रैस्वर्य में स्वरों की ही प्रधानता है जिसका अनुसरण करते हुए व्यञ्जन सस्वर हो जाते हैं)।

मीमांसा—दर्शन में शब्द को ही महत्त्व दिया गया है। वेद—शब्दों से अवच्छिन्न चेतन—तत्त्व को ही शब्दब्रह्म मानते हुए कुमारिलभट्ट ने कहा है—

---

11. याज्ञवल्क्यशिक्षा, 1.25-26
12. वही, 1.41
13. वही, 2.29–30

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

शब्दब्रह्मेति यच्चेदं शास्त्रं वेदाख्यमुच्यते।
तदप्यधिष्ठितं सर्वमेकेन परमात्मना।।[14]

अर्थात् वेदनामक शास्त्र को शब्दब्रह्म कहा गया है, जो समग्रतः एक ही परमात्मा से अधिष्ठित है। तात्पर्य यह कि पृथक्–पृथक् वेदशरीरी आत्मा है और समस्त वेद शब्दब्रह्म का एकीभूतरूप है। उस शब्दब्रह्म का अधिष्ठाता ही परमात्मा है।

स्पष्ट है कि त्रैस्वर्य से बनने वाला प्रत्येक पद या वाक्य अचेतन नहीं होता है। वेदान्त की शब्दावली में कहा जाये तो शब्दावच्छिन्न चैतन्य ही शब्दब्रह्म है और कोई शब्द तब तक वेदपाठ में नहीं आ सकता जब तक वह त्रिस्वरसंवलित न हो। त्रैस्वर्य का अनुवाद हस्त द्वारा किया जाता है। अत एव **पाणिनीयशिक्षा** में कहा गया है–

हस्तहीनं च योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम्।
ऋग्यजुः सामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति।।

अर्थात् जो वेद का अध्ययन करने वाला वाजसनेयिशाखाध्यायी होते हुए यथावत् स्वरानुसारी हस्तप्रयोग से रहित वेदपाठ करता है अथवा सामगानकर्ता होते हुए अङ्गुष्ठ और अङ्गुलि के यथावत् संयोग से रहित सामगान करता है वह त्रैस्वर्य से शून्य तथा वर्णों का ठीक उच्चारण नहीं करता है, वह अध्येता ऋग्, यजुः, साम–इन तीनों वेदरूपी अग्नियों से जलाया जाता हुआ तिर्यक् योनि अथवा नारकीय योनि को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि उसे देवत्व अथवा मनुष्यत्व की प्राप्ति नहीं होती है।

तैत्तिरीय उपनिषद् की शीक्षावल्ली का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए आचार्य सायण ने कहा है–

> तस्य च ग्रन्थस्यार्थज्ञानप्रधानत्वात्पाठे मा भूदौदासीन्यमित्येतदर्थं द्वितीयानुवाके शिक्षाध्यायोऽभिधीयते। तस्माद्विद्यायामवैकल्याय यथाशास्त्रं बौद्धमुपनिषत्पठे प्रयत्नातिशयं विधातुमत्रैव शिक्षाध्यायोऽभिधीयते। यद्यप्यत्र शीक्षादिशब्दानामेकश्रुत्याऽधीयमानत्वाद् व्याकरणोक्तप्रकृतिप्रत्ययादिप्रयुक्तः स्वरो नोपलक्ष्यते तथापि सम्प्रदायप्रसिद्धः स्वरस्तथैवाभ्यसनीयस्तस्य चार्थविशेषज्ञान उपयोगाभावेऽप्यनेन शीक्षाध्यायेन विधीयमानत्वाददृष्टोपयोगो भविष्यति तच्चादृष्टमुपासनायां तत्त्वजिज्ञासोस्तत्त्वविद्यायां च प्रतिबन्धपरिहाराय सम्पद्यते।[15]

अर्थात् ग्रन्थ में अर्थज्ञान की प्रधानता होती है, परन्तु पाठ में उदासीनता नहीं होनी चाहिए, इसलिये शिक्षाध्याय लाया गया है। इसलिए कि कोई अङ्गविकलता न आये तथा शास्त्र के अनुसार अर्थ का ज्ञान हो सके। एतदर्थ पाठ में अधिक प्रयत्न करना चाहिये। इस उपनिषद् में शिक्षाध्याय का यही प्रयोजन है। इस सन्दर्भ में शिक्षा इत्यादि शब्दों का पाठ एकश्रुति से ही किया गया है, अतः व्याकरण में बताये हुए प्रकृति तथा प्रत्यय आदि का

14. तन्त्रवार्तिक, 3.1.13
15. तै. उप., 1.2 पर सायणभाष्य

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

स्वरसंयोग लक्षित नहीं होता है, तथापि सम्प्रदाय–परम्परा से प्रसिद्ध स्वर का उसी प्रकार अभ्यास करना चाहिये। भले ही अर्थज्ञान में स्वर का उपयोग न हो फिर भी श्रुति में शीक्षाध्याय के द्वारा स्वर को विहित बताया गया है। अतः दृष्ट उपयोग न होने पर भी अदृष्ट उपयोग अवश्य होगा और वह अदृष्ट उपासना में तथा तत्त्वजिज्ञासु की तत्त्वविद्या में प्रतिबन्ध का परिहार करेगा। यही स्वरसंयोजन का परम प्रयोजन है।

सायण का अभिप्राय है कि अर्थज्ञान में अनुपादेय पाकर त्रैस्वर्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। एकश्रुति के पाठ से वह अपूर्व अथवा अदृष्ट नहीं हो सकता है जो त्रैस्वर्यपाठ से होता है। त्रैस्वर्य के बिना उपासना नहीं होती है और तत्त्वज्ञान में व्याघात उत्पन्न होता है। बिना स्वरज्ञान के आचार्यत्व का सम्पादन भी नहीं हो सकता है। यह तथ्य तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में इस प्रकार है–

पदक्रमविभागज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः।
स्वरमात्राविशेषज्ञो गच्छेदाचार्यसंसदम्।।[16]

अर्थात् पद तथा क्रम के विभाग को जानने वाला, वर्णों के क्रम को जानने वाला, स्वरों तथा मात्राओं की विशेषताओं को जानने वाला आचार्यत्व को प्राप्त कर लेता है।

इस सन्दर्भ में एकश्रुति का उल्लेख हुआ है, जिसका तात्पर्य है कि तीनों स्वरों का पृथक्–पृथक् पाठ न होने से सभी स्वरों का एक जैसा श्रवण होता है। यह एकश्रुति स्वरित के बाद आने वाले अनुदात्तों के प्रचय में पायी जाती है–

स्वरितात् संहितायामनुदात्तानां प्रचय उदात्तश्रुतिः।[17]

अर्थात् संहिता–पाठ में स्वरित के पश्चात् जितने अनुदात्त स्वर आते हैं उन सबका प्रचय हो जाता है जिसमें सभी स्वरों का उदात्त–श्रवण होता है। लौकिक संस्कृत में सर्वत्र प्रचयरूप एकश्रुति ही पायी जाती है, परन्तु जिस पद के अर्थ पर बल देना होता है उसके स्वर को कुछ कर्कश बनाकर उदात्त कर दिया जाता है। इस प्रकार उदात्तरूप बलाघात की दृष्टि से एक ही वाक्य अर्थतः अनेकरूपता प्राप्त कर लेता है।

फलितार्थ में यह तथ्य स्पष्ट होता है कि त्रैस्वर्य के बिना कहीं भी वेद का वेदत्व मान्य नहीं हो सकता है। उपासना और तत्त्वज्ञान का सर्वस्व त्रैस्वर्य पर प्रतिष्ठित है। इस त्रैस्वर्य–पाठ को भी वेदविद्या का वैभव मान लिया जाय तो यह वैदिक श्रुति चरितार्थ होती है–

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम
गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।[18]

अर्थात् विद्या ने ब्राह्मण के पास आकर कहा कि तू मेरी रक्षा कर, क्योंकि मैं तेरा वैभवकोश हूँ। वेद–वेदाङ्ग और उपनिषद् को मिलाकर जो एकादश विद्याओं का परिगणन

16. तै. प्रा., 24.6

17. वही, 21.10

18. निरुक्त 2.1.4

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

किया गया है उसकी स्वरूप–प्रतिष्ठा त्रैस्वर्य पर ही है। उसी से वह अदृष्ट निर्मित होता है, जिसके फल के रूप में कहा गया है–

ब्रह्मलोके महीयते।[19]

X X X

(2)

त्रैस्वर्य वेदों तक ही सीमित नहीं है। लोक में भी उसके बिना अर्थसंगति असम्भव होगी। यहाँ पहले द्रष्टव्य है कि स्वरित स्वर में प्रथम अर्धांश उदात्त का रहता है, जिसका स्पष्ट श्रवण कभी–कभी ही हो पाता है। अतः लौकिक संस्कृत में उदात्त तथा अनुदात्त को ही लेकर विचार करना चाहिये। उदात्त का कोई चिह्न नहीं होता है, परन्तु अनुदात्त स्वर के नीचे पड़ी रेखा लगती है और स्वरित के ऊपर खड़ी रेखा लगाते हैं। स्वरित के पश्चात् उस पद के अग्रिम स्वरों की एकश्रुति रहती है और उसका भी कोई चिह्न नहीं होता है, केवल अभ्यास से जाना जाता है। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि स्वरित स्वर में उदात्त के अनन्तर अनुदात्त की भक्ति रहती है। यह स्वरित–घटक अनुदात्त तभी श्रवणगोचर होता है जब स्वरित स्वर के पश्चात् उदात्त अथवा स्वरित आता हो अन्यथा उसके उदात्त (स्वरितार्ध) का श्रवण होगा। सिद्धान्तकौमुदी–संज्ञाप्रकरण में आया है–

तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्।[20]
ह्रस्वग्रहणमतन्त्रम्। स्वरितस्यादितोऽर्धमुदात्तं बोध्यम्। उत्तरार्धं तु पारिशेषादनुदात्तम्। तस्य चोदात्तस्वरितपरत्वे श्रवणं स्पष्टम्। अन्यत्र तूदात्तश्रुतिः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धा।

ऋग्वेद से लेकर समस्त वैदिक परम्परा में अविधवा शब्द का व्यापक प्रचलन रहा है। इसके अविधवात्व से हिन्दी का अहिबात बना है। अविधवात्ववती को हिन्दी में अहिवाती कहते हैं। इस शब्द में आदिम 'अ' कार अव्ययात्मक होने से उदात्त है, अतः उसका कर्कश उच्चारण होगा और परवर्ती इकार के स्वरित होने से उसमें भी उदात्त की प्रतीति होगी। इस प्रकार उदात्त की डेढ़ मात्रा बनती है। शेष स्वर प्रचयात्मक हैं, अतः उनमें उदात्त स्वर की कर्कशता नहीं रहती है। फलतः अकार के कर्कश उच्चारण के कारण उसका कभी लोप नहीं होता है और स्पष्ट उच्चरित होने के कारण यह शङ्का भी नहीं रहती कि "अविधवा" को कोई कहीं विधवा न सुन ले। सूत्र इस प्रकार है–

तत्पुरूषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः।[21]
उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः।[22]

---

19. कठोप., 1.3.16
20. पा. सू., 1.2.32 तथा वृत्ति
21. वही, 6.2.2
22. वही, 8.4.66

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

यहाँ कालिदास का प्रयोग द्रव्टव्य है जहाँ उन्होंने सम्बोधन के एकवचन में 'अविधवे' का प्रयोग किया है–

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे............[23]

यहाँ 'आमन्त्रितस्य च'[24] से 'अविधवे' पद अनुदात्त है जिसमें नञर्थक अकार का स्वरितार्ध के साथ उदात्तश्रवण अवश्य होगा (अविधवे)। इसके पहले के सभी स्वर अनुदात्त हो जायेंगे–

सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे।[25]

अर्थात् सम्बोधन पद परे रहते स्वर कर्तव्य होने पर सुबन्तपद पराङ्गवत् हो जाते हैं, अत एव सम्बुद्धि पद के पूर्व आने वाले सभी पद सम्बुद्धि पद के साथ एकपद्य प्राप्त करेंगे। फलतः–

अनुदात्तं पदमेकवर्जम्।[26]

अर्थात् जिस पद का कोई स्वर उदात्त अथवा स्वरित हो जाता है उसके अतिरिक्त सम्पूर्ण पद अनुदात्त माना जाता है। भगवान् पाणिनि ने उदात्त अथवा स्वरित स्वर से पूर्ववर्ती सभी अनुदात्तों को अनुदात्ततर (अत्यन्त कोमल) बताया है। अत एव सम्बुद्धि पद के पहले वाले सभी स्वर अत्यन्त कोमल होंगे, जिनकी तुलना में सम्बुद्धि पद का अकार परवर्त्ती स्वरित के अर्ध उदात्त के साथ अत्यन्त कर्कश सुनाई पड़ेगा। स्वरलिपि इस प्रकार रहेगी–

भर्तुर्मित्रं प्रियमविधवे.............

इस सन्दर्भ में शिक्षा–वेदाङ्ग को भी सामने रखना चाहिए–

उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभधैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपञ्चमाः।।[27]

कालिदासीय उदाहरण में उदात्त अकार को निषाद स्वर में लेकर उच्चतम पद पर प्रतिष्ठित करके सङ्गीत में उसी को 'वादी' बनाकर तदनुरूप 'संवादी' कोमल स्वरों की खोज करके स्वरलिपि तैयार करनी चाहिए। उदात्त के बाद वाले स्वरित को निषाद के निकटवर्ती पञ्चम को लेकर अनुदात्तों को ऋषभ बनाकर प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु यह सङ्गीताचार्य की कर्तव्यसीमा में आता है कि वे निषाद को वादी बनाने के पश्चात् सङ्गीत में किस प्रकार स्वरों का गान करेंगे।

X X X

---

23. मेघदूत, 2.36
24. पा. सू., 6.1.198
25. वही, 2.1.2
26. वही, 6.1.158
27. पाणिनीयशिक्षा

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

व्याकरण के कुछ अन्य प्रयोग विचार–सापेक्ष हैं– जैसे जनपद शब्द से 'अञ्' प्रत्यय[28] करके बनने वाला 'जानपद' शब्द आद्युदात्त है[29]। पाणिनि ने वृत्ति अथवा आजीविका के अर्थ में **डीष्** का प्रयोग करके जानपदी शब्द बनाया है। अर्थात् किसी जनपद की वृत्ति जानपदी कहलायेगी[30]। वृत्ति से भिन्न अर्थ में **टिड्ढाणञ**[31] सूत्र से डीप् प्रत्यय होने पर **अनुदात्तौ सुपपितौ**[32] से अन्तिम स्वर अनुदात्त हो जायेगा क्योंकि डीप् पित् है। अतः–

डीष् करने पर............जानपदी
डीप् करने पर............जानपदी

यहाँ उदात्त का कर्कश उच्चारण ध्यान में रखा जाये तो अन्तर स्पष्ट हो जायेगा। इस प्रकार जानपद सूत्र के ही सन्दर्भ में 'नागी' शब्द को लिया जा सकता है। यदि हस्तिनी की स्थूलता का अर्थ लेना है तो डीष् प्रत्यय होगा, जिससे अन्तोदात्त 'नागी' शब्द बनेगा, परन्तु यदि सर्पवाचक नाग को लेकर तन्वङ्गी का अर्थ दिखाना हो तो डीप् होगा,[33] अतः नागी शब्द आद्युदात्त होगा............नागी।

भरतमुनि ने इस पर विशेष विचार किया है। उन्होंने कम्पित स्वर को चतुर्थ स्थान दिया है–

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः कम्पितस्तथा।
वर्णाश्चत्वार एव स्युः पाठयोगे तपोधनाः।।[34]

उच्चता, नीचता, मध्यमता उच्चनीचोभयडोलालम्बनमिति चत्वारः स्वरधर्माः।[35]

कम्पित स्वर यहाँ विवेच्य नहीं है। नाट्यशास्त्रकार ने पाठ्याभिनय या संवादपाठ्य के प्रयोग को लेकर उक्त निरूपण किया है। **आपिशलशिक्षासूत्र**[36] में उदात्त की रूक्षता अथवा कर्कशता बतायी गयी है। उसी के आगे अनुदात्त की स्निग्धता अथवा कोमलता स्पष्ट की गयी है।

यह स्वर–प्रयोग दो प्रकार से जाना जाता है – नैसर्गिक तथा स्थानीय। अंग्रेजी के शब्दकोश में अनेकाक्षर शब्द में किसी एक अक्षर पर जो बलाघात किया जाता है उसको उदात्त के समकक्ष रखा जा सकता है और यह नैसर्गिक उदात्त है। इसके विपरीत स्थानीय अथवा

---

28. पा. सू., 4.1.86
29. वही, 6.1.197
30. वही, 4.1.42
31. वही, 4.1.15
32. वही, 3.1.4
33. वही, 4.1.63
34. ना. शा., 17.108
35. अभिनवभारती
36. 8.20

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

प्रायोगिक उदात्त अर्थ पर बल देने के लिए रखा जाता है। भारोपीय परिवार की भाषाओं में अंग्रेजी की पद्य–रचना तथा गद्य–रचना में भी दोनों प्रकार के बलाघात पाये जाते हैं। सॉनेट् अथवा अन्य किसी प्राचीन कविता को लेकर उदाहरण खोजे जा सकते हैं।

हिन्दी आदि भाषाओं में केवल स्थानीय उदात्त पाया जाता है, जिससे एक ही पद–समूह अनेक वाक्य का रूप लेता है। यहाँ हिन्दी के एक वाक्य को लेकर बलाघाती पद को बड़े अक्षर में लेकर उदाहृत किया जा सकता है–

1. **मैं** अभी घर जाऊँगा।
2. मैं **अभी** घर जाऊँगा।
3. मैं अभी **घर** जाऊँगा।
4. मैं अभी घर **जाऊँगा**।

ये चार वाक्य हैं जो चार प्रश्नों का उत्तर बनते हैं–

1. कौन घर जाएगा?
2. तुम कब घर जाओगे?
3. तुम अब कहाँ जाओगे?
4. क्या तुम घर जाओगे?

x x x

भारतीय भाषाओं में प्राकृत, अपभ्रंश आदि की रचना को उदात्तादि स्वरों से स्वतन्त्र मान लिया गया है, पाणिनीयेतर व्याकरण स्वर–सञ्चार से मुक्त भाषा देने हेतु लिखे गये हैं, परन्तु स्थानीय अथवा प्रायोगिक उदात्त से मुक्त रह पाना असम्भव है। पाणिनीय व्याकरण पदों के स्वरों में नैसर्गिकता का समायोजन करता है और साथ ही वाक्यप्रयोग में स्वरसंहिता को स्थानीय मानते हुए भी नैसर्गिक स्वीकार करता है। इसके उदाहरण इस लेख के प्रथम भाग में आ चुके हैं।

(3)

आधुनिक भाषाविज्ञान में वर्नर का नियम प्रसिद्ध है। तदनुसार पूर्ववर्ती स्वर के उदात्त होने पर उसका लोप नहीं होता है। इसके विपरीत यदि परवर्ती स्वर उदात्त है तो पूर्ववर्ती अनुदात्त होकर कहीं–कहीं लुप्त पाया जाता है–

अस्ति स्तः सन्ति
असि स्थः स्थ
अस्मि स्वः स्मः

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

यहाँ एक वचन में तिप् सिप् मिप् को पाणिनि ने **पित्** रखा है, अतः वे अनुदात्त होते हैं।[37] फलतः धातु के स्वर उदात्त ही रह जाते हैं, क्योंकि **'धातोः'**[38] से उदात्तता विहित है। जब प्रत्यय का स्वर अनुदात्त है तब परिशेषात् धातुस्वर उदात्त रहेगा। इसके विपरीत शेष प्रत्यय पित् नहीं है, अतः **'आद्युदात्तश्च'**[39] के सत्र अनुसार प्रत्यय स्वर उदात्त रहेगा। तब धातुस्वर अनुदात्त होकर कोमल हो जायेगा, अतः लोप को अवसर मिलेगा। एक पद में एक ही उदात्त का विधान है।[40]

इसीलिए पाणिनि ने विधिलिङ् के **यासुट्** को **ङित्** किया है[41] **ङित्** होने से किसी भी स्थिति में वह **पित्** नहीं होगा (महाभाष्यकार ने कहा है– **पिच्च ङिन्न ङिच्च पिन्न**)। अतः **अपित्** होने से वह उदात्त हो जाता है। फलतः अनुदात्त होने से धातुस्वर का लोप होता है– **स्यात् स्याताम् स्युः**। पाणिनि ने प्रथम और मध्यमपुरूष के एकवचन को लोट् लकार में ङित् किया है,[42] अत एव वहाँ भी **"अस्तु"** का रूपान्तर **"स्तात्"** होता है। सूत्रकार ने **असानि असाव असाम** की निष्पत्ति के लिए **आडागम** को **पित्** बना दिया है, जिससे वह अनुदात्त हो जाता है और धातुस्वर उदात्त बना रहकर लोप से बच जाता है। उदात्त से परवर्त्ती अनुदात्त का स्वरित विहित है, अतः स्वरलिपि के साथ रूप द्रष्टव्य है–

असा॑नि असा॑व असा॑म

x x x

यहाँ स्वरप्रक्रिया का महत्त्व बताने का एक लघु प्रयास किया गया है। सम्पूर्ण वाङ्मय को इस दृष्टि से ग्राह्य बनाने का प्रयास आज के युग में बड़ा कठिन है, फिर भी **सुकरात** की उक्ति को हम भी प्रयोग में ला सकते हैं–

I do know that I do not know.

■ ■ ■

---

37. अनुदात्तौ सुप्पितौ, पा. सू., 3.1.4
38. वही, 6.1.162
39. वही, 3.1.3
40. अनुदात्त पदमेकवर्जम्, वही, 6.1.158
41. यासुट् परस्मैपदेषूदात्तौ ङिच्च, वही, 3.4.103
42. तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्, वही, 7.1.35

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

व्याकरणदर्शन में क्रिया तथा काल

व्याकरणदर्शन में क्रिया और वर्तमानादि काल का विवेचन बड़े महत्त्व का रहा है। इसमें प्रथमतः क्रिया पर विचार अपेक्षित है। 'कृ' धातु से स्त्रीलिङ्ग भाववाच्य कृदन्त क्रिया की निष्पत्ति है[1]। इसके स्वरूप को लेकर दर्शनों में वैमत्य पाया जाता है। यह सर्वसम्मत है कि क्रिया क्षणिक होती है, जिसका समूह ही व्यवहारोपयोगी हो सकता है। यह द्रव्य में उत्पादनाश लेने वाला धर्म है। उत्पाद तथा नाश भी क्रियारूप हैं, अतः स्वरूपनिरूपण कठिन माना गया है। यास्क ने क्रिया समूह को भाव नाम से विचारणीय बनाया है....

पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाऽऽचष्टे व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्।[2]

अर्थात् आख्यात से उस भाव का आख्यान होता है, जिसमें आरम्भ से फलपर्यन्त क्रियाओं का पूर्वापरीभाव रहता है। तात्पर्यतः गमन अथवा पचन की उन क्रियाओं के समूह को भाव कहा गया है, जिनमें आरम्भ क्षण की क्रिया आदिम तथा फलसिद्धिक्षण से पूर्व की क्रिया अन्तिम रहती है और दोनों के मध्यक्षणों में क्रियाओं का सन्तान चला करता है। दुर्गाचार्य के भाष्य में स्पष्ट किया गया है.........

आह, अन्त्या–सन्निधौ भावनिर्वृत्तिदर्शनादन्त्ययैव निर्वर्त्यत इति। शृणु।
पूर्वासामभावे अन्त्यैव न स्यात्। पूर्वापेक्षं हि तस्या अन्त्यात्वम्।
अपि च प्राप्तिफलो हि व्रजतिः। न चैकया क्रिययाभिमतदेशान्तरे प्राप्तिरस्ति।
प्रसिद्धमेतद्, उपक्रमादारभ्य यच्च व्रजितं यच्च व्रज्यते व्रजिष्यमाणं तत् सर्वमेकीकृत्य वक्तारो भवन्ति व्रजति देवदत्त इति।

अर्थात् यद्यपि अन्त्य क्रिया के सन्निधान में फलनिष्पत्ति देखी जाती है, तथापि अन्त्य क्रिया ही निष्पादक नहीं है, पूर्व क्रियाओं के अभाव में केवल अन्त्य से निष्पत्ति असम्भव है। वह क्रिया पूर्व क्रियाओं की सापेक्षता में ही सत्य है। इसके अतिरिक्त गमनक्रिया का फल प्राप्ति है, किन्तु अभीष्ट देशान्तर में एक ही क्रिया से प्राप्ति नहीं हो सकती है। यह प्रसिद्ध है कि उपक्रम से लेकर जितना चला जा चुका, चला जा रहा है तथा आगे चला जाना है, उस सबको एक मानकर ही कहा जाता है कि देवदत्त जा रहा है। निरूक्तकार ने क्रियासमूह को भाव कहा है, जो एक फल की निष्पत्ति के उद्देश्य से उत्पन्न किया जाता है, परन्तु भगवान् पतञ्जलि ने दोनों

---

1. पा. सू., कृञः श च 3.3.100
2. नि., 1.1.11

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

शब्दों को एकार्थक मानते हुए कहा है–

भाव्यते यः स भावः। क्रिया चैव हि भाव्यते। स्वभावसिद्धं तु द्रव्यम्।[3]

अर्थात् भाव्यमान अथवा साध्य पदार्थ भाव है। क्रिया ही भावित की जाती है, अतः वही भाव है। द्रव्य तो स्वभावसिद्ध है, अतः वह भाव नहीं कहा जा सकता है। द्रव्य साधन अथवा कारक है जिससे क्रिया निष्पाद्य अथवा साध्य है–

नान्तरेण साधनं क्रियायाः प्रवृत्तिर्भवति।[4]

अर्थात् साधन के बिना क्रिया की प्रवृत्ति नहीं होती है। स्वरूपतः क्रिया क्षणिक होती है, अतः मूलरूप में वह परोक्ष है–

क्रिया नामेयमत्यन्तापरदृष्टानुमानगम्या न शक्या पिण्डीभूता निदर्शयितुम्।[5]

अर्थात् क्रिया अन्य किसी द्वारा अत्यन्त अप्रत्यक्ष रहती है, जिसे पिण्डरूप में दिखाया नहीं जा सकता है, अतः वह अनुमेय है। इस तथ्य को उपमा द्वारा समझाया गया है–

विसस्य वाला इव दह्यमाना न लक्ष्यते विकृतिः सन्निपाते।
अस्तीति तां वेदयन्ते त्रिभावाः सूक्ष्मो हि भावोनुमितेन गम्यः।।[6]
तद् यथालातचक्रं प्रत्यक्षं दृश्यते, अनुमानाञ्च गम्यते नैतदस्तीति।[7]

अर्थात् जिस प्रकार मृणाल के सहस्रशः तन्तु जब जलाये जाते हैं तब उस दाह के समुदित स्वरूप में प्रत्येकशः तन्तुदाह दिखता नहीं है। उसी प्रकार क्षणसमुदाय में द्रव्यगत प्रत्येक विकृतिरूप क्षणिक क्रिया का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है, तथापि तीन कालों में भावविभाग मानने वाले विचारक क्रिया का अस्तित्व मानते हैं। अतः यही स्वीकार्य है कि सूक्ष्म क्रिया अनुमानगम्य है। जिस प्रकार अलातचक्र प्रत्यक्ष दिखता है किन्तु अनुमान से ज्ञात होता है कि क्षणिक विकीर्ण ज्वालाओं के अतिरिक्त उसकी सत्ता नहीं है वैसा ही क्रिया ज्ञातव्य है–

न वर्तते चक्रमिषुर्न पात्यते न स्यन्दन्ते सरितः सागराय।
कूटस्थोऽयं लोको न विचेष्टितास्ति
यो ह्येवं पश्यति सोप्यनन्धः।।
मीमांसको मन्यमानो युवा मेधाविसम्मतः।
काकं स्नेहानुपृच्छति किं ते पतति लक्षणम्।।
अनागते न पतसि अतिक्रान्ते च काक न।
यदि सम्प्रति पतसि सर्वो लोकः पतत्ययम्।।

---

3. म. भा., 1.3.1 वार्तिक 12
4. वही, 2.3.7
5. वही, 3.2.102
6. वही, 3.2.123
7. वही, 3.2.124 वार्तिक 2

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

हिमवानपि गच्छति।।
अनागतमतिक्रान्तं वर्तमानमिति त्रयम्।
सर्वत्र च गतिर्नास्ति गच्छतीति किमुच्यते।।[8]

अर्थात् क्षणक्रिया का गत्यात्मक रूप न ही होगा और समुदाय की गति प्रतीत होती है जिससे अनुमित क्षणक्रिया गतिमय अथवा चलनात्मक कैसे हो सकती है ? अतः कहा गया है कि रथचक्रादि की वर्तुल गति नहीं है, बाणपातन नहीं होता है तथा नदियाँ सागर को नहीं जाती हैं। यह लोक चेष्टाहीन कूटस्थ (निष्क्रिय तथा निर्विकार है)। जो इस प्रकार की दृष्टि रखता है वह भी अन्धा नहीं है। एक मननशील विचारक प्रबुद्ध जनों में सम्मानित था। उस युवा मनीषी ने काक से प्रश्न किया कि तेरे उड्डयन का स्वरूप क्या है ? तुम अनागत काल में उड़ नहीं सकते, अतीत में उड़ना असम्भव है और यदि वर्तमान (क्षण) में उड़ते हो तो सारा लोक उड़ता है तथा हिमालय भी चलता है, ऐसा मानना चाहिए..........वर्तमान एक क्षण है, जिसमें कोई स्पन्द माना जाये तो गतिहीनों में भी गति स्वीकार करनी होगी। तीन ही काल हैं, जिनमें गति की जब व्याख्या नहीं हो सकती तब **"गच्छति"** क्यों कहा जाता है ? क्रिया व्यावहारिक भासमात्र है जिसकी प्रतिभासपरक व्याख्या ही हो सकती है

एष च नाम न्याय्यो भूतकालो यत्र किञ्चिदपवृक्तं दृश्यते।[9]

एष एव च नाम न्याय्यो वर्तमानकालो यत्रारम्भोनपवृक्तः।[10]

निर्देशोत्तरकाला च भविष्यत्कालता।[11]

अर्थात् क्रिया में काल की तर्कसंगत व्यवस्था यही हो सकती है.........(1) जहाँ कोई फल निष्पन्न ज्ञात हो वह भूतकाल है, (2) जहाँ आरम्भ की फलनिष्पत्ति नहीं पायी जाती वहाँ वर्तमानकाल कहा जाता है, और (3) शब्द द्वारा निर्देश के पश्चात् क्रिया की भविष्यत्कालता रहती है। भर्तृहरि ने इसी को निबद्ध किया है–

यावत् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते।।[12]

अर्थात् जो कुछ भी सिद्ध (अतीत) या असिद्ध (वर्तमान तथा भावी) जब क्रमरूपता के अधीन साध्यरूप से शब्द द्वारा कहा जाता है, तब उस क्रमरूपताप्राप्त साध्यावस्था में "क्रिया" नाम से व्यवहारभागी बनता है।

शब्द में ही साध्यता, क्रमरूपता और तत्त्वरूपेण वाच्यता है, अतः क्रिया का कोई स्वरूप शब्देतरगम्य नहीं है। अनुगम्य क्रिया–क्षण क्रिया–रूप नहीं हो सकता है। यह तथ्य महाभाष्य के

---

8. वही, 3.2.123 वार्तिक 5
9. वही, 3.2.101 वार्तिक 4
10. वही, 3.2.123
11. वही, 3.3.3 वार्तिक 2
12. वाक्यपदीय, 3.8.1

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

सन्दर्भों में स्पष्ट है। प्रस्तुत कारिका की विस्तृत व्याख्या हेलाराज ने की है। कुछ अंश इस प्रकार हैं–

1. **परिस्पन्दस्वभावा लोके क्रिया प्रसिद्धा। अस्तिभवतिविद्यतीनां च न परिस्पन्दस्वभावोऽर्थ इति सकलधातुव्यापकं क्रियालक्षणं भाष्ये प्रणीतं कारकाणां प्रवृत्तिविशेषः क्रियेति।**

अर्थात् लोकव्यवहार में क्रिया का स्वरूप परिस्पन्द है, परन्तु **'अस्ति–भवति–विद्यति'** धातुओं का अर्थरूप स्वभाव परिस्पन्द नहीं है। अतः महाभाष्यकार ने सकलधातुसाधारण क्रियालक्षण दिया है कि कारकों की प्रवृत्तिविशेष को क्रिया कहते हैं। यहाँ कारक–प्रवृत्तिविशेषत्व क्रिया का लक्षण है जिस पर विचार अपेक्षित है।

2. **सर्वेषां वा कारकाणामेकः प्रवृत्तिविशेषः प्रतिकारकं भिन्ना वा प्रवृत्तिरिति? आद्ये पक्षे फलभूता भूतिपक्त्यादिका वा प्रवृत्तिः स्यादन्या वेति द्वैतम्। तत्र न तावत् सर्वेषामेकः प्रवृत्तिविशेषः असम्भवात्। न हि यैव करणस्य प्रवृत्तिः सैव कर्तुः, यैवाधिकरणस्य सैव सम्प्रदानस्येत्यादि। अनेकाश्रयाया एकस्याः क्रियाया अदर्शनात् तस्मात् प्रतिकारकं भिन्ना वा प्रवृत्तिः क्रिया? इत्थं च क्रियावाची धातुरिति सकलकारकव्यापाराभिधायी धातुः प्राप्तः।.....नैतदस्ति। कर्तृकर्मणोर्लस्यानुशासनात् तद्व्यापार एव लान्तात् प्रतीयते।**

अर्थात् भाष्यकार के उक्त क्रियालक्षण पर प्रश्न हैं कि सभी कारकों का एक ही प्रवृत्तिविशेष होता है अथवा प्रतिकारक प्रवृत्ति की भिन्नता रहती है? यदि सबकी एक ही प्रवृत्ति का पक्ष लिया जाये तो द्वैत उपस्थित है कि वह प्रवृत्ति होना तथा पकाना आदि होता है अथवा कुछ अन्य? तीनों विकल्प अनुपपन्न हैं.........(1) धात्वर्थ से अन्य कोई क्रिया नहीं हो सकती है, (2) सभी कारकों की एक ही प्रवृत्ति असम्भव है, क्योंकि कर्ता, करण, अधिकरण तथा सम्प्रदानादि की एक ही अनेकाश्रित प्रवृत्ति नहीं पायी जाती। अतः (3) प्रतिकारक भिन्न प्रवृत्ति को क्रिया मानने का विकल्प लिया जा सकता है, परन्तु सभी क्रियाओं की धातुवाच्यता का अनिष्ट–प्रसङ्ग है, क्योंकि धातु क्रियावाचक होता है। सभी कारकों की क्रियाओं को धात्वर्थ मानने पर आख्यातपद से सभी अर्थों का अभिधान होना चाहिए, किन्तु कर्मवाच्य तथा कर्तृवाच्य की व्यवस्था है।

3. **न तर्हि साधनमात्रव्यापाराभिधायी धातुः। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तदनवगमात्, उपायान्तराभावाच्च प्रकृतिप्रत्यययानुसरणस्य। सत्यमेतत्। किन्तु देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचतीत्यादौ विशेषेण पचतेर्धातोः सर्वकारकव्यापारस्वीकारो–पलब्धेरखिलकारकव्यापाराभिधायी धातुरित्युपगमात्। प्राधान्यात् तु कर्तृकर्मणोर्लकारोत्पत्तेस्तद्व्यापार एव लान्तात् प्रतीयत इत्येकीयमतम्।**

अर्थात् धातु को कारक मात्र के व्यापार का वाचक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अन्वयव्यतिरेक से वैसी प्रतीति नहीं पायी जाती है और प्रकृतिप्रत्ययसम्बन्ध के अनुसरण का कोई उपाय नहीं है। इस पर एकदेशी मत है कि देवदत्त काष्ठों से स्थाली में ओदन पकाता है इत्यादि में, विशेषतः पच् धातु में, सभी कारकों के व्यापारों की व्यवहारतः स्वीकृति पायी जाती

CC-0. Akhil Bhāratiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

है। अतः धातु सर्वकारकव्यापार–वाचक है। कर्ता और कर्म कारक प्रधान हैं, अतः आख्यातविभक्ति की उत्पत्ति दो ही कारकों के अर्थ में होने से उन्हीं का व्यापार आख्यातपद से प्रतीत होता है।

4. **अन्ये मन्यन्ते सम्प्रदानादिव्यापारे धातोर्न प्रवृत्तिः। करणादिव्यापार एव तु वृत्तिः। तथा च करणादावेव स्वातन्त्र्यविवक्षा, नापादानादौ। इत्थं च अधिश्रयणोदकासेचनेत्यदिना कर्त्रादीनामेव व्यापारः पचिक्रियेति वार्तिककारो दर्शयति। अतश्च कारकाणां प्रवृत्तिविशेषः क्रियेति क्रियायाः स्वरूपमात्रं कथितं न तु धातुवाच्यत्वम्। यस्य कारकस्य या प्रवृत्तिः सा किया। ततो बहुकारकविषयत्वेन बह्व्य एव पाकक्रियाः। काचिदेव धातुनाभिधीयते कर्मगता कर्तृगता वा पच्यते पचतीति।**

अर्थात् अन्य आचार्य मानते हैं कि धातु की प्रवृत्ति अपादान और सम्प्रदान के व्यापार में नहीं होती है, क्योंकि उनका कर्तृत्व कभी विवक्षित नहीं होता है, परन्तु कर्ता, कर्म, करण तथा अधिकरण के व्यापार में ही धातु की वृत्ति रहती है। अतः करणादि के कर्तृत्व की विवक्षा में वे भी कर्ता कारक हो सकते हैं। अतः वार्तिककार ने स्पष्ट किया है कि चूल्हे पर चढ़ाना तथा जल डालना आदि ही **पच्** धातु के और वे कर्ता आदि के ही व्यापार हैं। अतः महाभाष्यकार ने जो कारकों के प्रवृत्तिविशेष को क्रिया कहा है उससे क्रिया के स्वरूपकथनमात्र का तात्पर्य है, किन्तु धातु–वाच्यता का आशय नहीं है। इस प्रकार जिस कारक की जो प्रवृत्ति होती है उसकी वही क्रिया है। अतः विविध कारकों की विविध पाकक्रियायें होंगी, परन्तु कोई क्रिया ही, जो कर्म और कर्ता में रहती है, धातु का अर्थ होती है।

5. **अन्ये तु विशेषपदे भरं कृत्वा प्रवृत्तीनां विशेषः प्रवृत्तिविशेष इति सकलकारकजन्या विक्लित्त्यादिरूपा भूतिः फलभूता कारकप्रवत्तेः क्रियेति व्याचक्षते।**

अर्थात् कुछ वैयाकरण भाष्यकार के **विशेष** पद को महत्त्व देते हुए प्रवृत्तियों में उस विशेष को प्रवृत्तिविशेष बताते हैं, जो सभी कारकों से जन्य निष्पत्तिरूप फल है और उसी विक्लिपत्ति आदि फल को कारकप्रवृत्ति की क्रिया मानते हैं।

6. **अपरे पुनः कारकमत्र प्रधानं विवक्षितं कर्तृरूपम्, न पुनरप्रधानं करणादि। बहुवचनं त्वनेकक्रियाभेदेन कर्तृभेदात्। कर्तृग्रहणमेव तु न कृतम्, कर्मणि लकारदर्शनात् तस्य व्युदासो मा भूदिति। तेन यत्र सम्भवति कर्म तत्र तद्व्यापारोपि क्रिया।...........एवं च प्रवृत्तेरेव विशेष इति समासः।**

अर्थात् अन्य आचार्यों की व्याख्या के अनुसार भाष्यकार के लक्षणवाक्य में प्रधान कारक विवक्षित है जो कर्ता है, किन्तु करणादि की प्रवृत्ति को क्रिया कहना अभीष्ट नहीं है। अनेक क्रियाओं के भेद से कर्ता का भेद मानकर **कारकाणाम्** पद का बहुवचन व्याख्येय है। कर्ता का ही ग्रहण परिभाषा में नहीं किया, क्योंकि कर्मवाच्य आख्यातों में यथासम्भव कर्मव्यापार का भी क्रियात्व मान्य रहा है। इस प्रकार प्रवृत्ति का विशेष ही प्रवृत्तिविशेषरूप क्रिया है।

7. **अन्ये तु सामान्यभूता क्रिया वर्तते इत्येतद्भाष्यानुसारेण प्रवृत्तिमात्रगृहीतविशेषं सकलकारानुयायि क्रियेति मन्यन्ते।........सर्वाणि हि फलजननाय प्रवर्तन्ते।**

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

अतो यत् फलजननारूपं तत् सर्वकारकेष्वविशिष्ट्म। किञ्चित् खलु कारकं केनचिदेव रूपेण जनयतीति फलजनना सर्वसाधारणरूपैव। अवान्तरभेदेन तु जनकत्वात् करणादिव्यपदेशः।

अर्थात् कुछ आचार्य कहते हैं कि क्रिया के सामान्य स्वरूप का कथन भाष्यकार ने ही किया है। अतः सभी कारकों में अनुगत क्रिया रहती है जिसमें कारकों की प्रवृत्ति से विशेषता का ग्रहण होता है.............सब कारकों की प्रवृत्ति एक नहीं होती है, किन्तु प्रवृत्तित्वेन सामान्यता के अधीन कारकीय प्रवृत्तिविशेषों को क्रिया कहा जाता है। फलजनना सब कारकों में सामान्य है, क्योंकि सभी कारक फलोत्पादनार्थ प्रवृत्त पाये जाते हैं। इस प्रकार फलजनना सभी कारकों में सामान्य है, किन्तु अपने विशेष प्रवृत्तिस्वरूप से वे फलोत्पादन करते हैं। अतः उनके अवान्तरभेदों के अधीन करणादि कारकीय व्यवहार होते हैं। तात्पर्यतः अपनी विशेष क्रिया के कर्ता हैं, जिन में अनुगत फलजनना के सामान्य रूप को लेकर एकीभूत क्रिया बनती है।

भगवान् भर्तृहरि ने क्रिया के दार्शनिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है–

गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते।।
समूहः स तथाभूतः प्रतिभेदं समूहिषु।
समाप्यते ततो भेदे कालभेदस्य सम्भवः।।
क्रमात् सदसतां तेषामात्मानो न समूहिनाम्।
सद्वस्तुविषयैर्यान्ति सम्बन्धं चक्षुरादिभिः।।
यथा गौरिति संघातः सर्वो नेन्द्रियगोचरः।
भागशस्तूपलब्धस्य बुद्धौ रूपं निरूप्यते।।
इन्द्रियैरन्यथाप्राप्तौ भेदांशोपनिपातिभिः।
अलातचक्रवद् रूपं क्रियाणां परिकल्प्यते।।[13]

अर्थात् अवयवशः क्रियाओं की क्रमिक उत्पत्ति होती है। उनके समूह में अवयव गौण हो जाते हैं। समूह में उन अवयवों का अभेद बुद्धि से कल्पित होता है। इस प्रकार अवयवभूत क्षणिक क्रियाओं के समूह को क्रिया कहा जाता है। उन अवयवों का यह कल्पित समूह अवयवशः प्रत्येक भेद में स्वरूपतः सम्पूर्ण रहता है, अतः भेद–कल्पना के अधीन कालभेद शक्य होते हैं। समूह के घटक अवयव वर्तमान क्षण में सत् तथा अतीतानागत में असत् रहते हैं। उनमें उत्पत्ति का क्रम है। अतः चक्षुरादि इन्द्रियों से उनका सन्निकर्ष नहीं हो पाता है, क्योंकि सत् या वर्तमान ही इन्द्रियों का विषय होता है। जिस प्रकार गोपिण्ड सम्पूर्णतः इन्द्रियगोचर नहीं होता है किन्तु भागशः उपलब्ध संघात का स्वरूप बुद्धि में निरूपित होता है उसी प्रकार भेदांश में ही सन्निकर्ष पाने वाले इन्द्रियों द्वारा क्रियासमूह की यथार्थतः उपलब्धि न होकर अन्यथा–प्रतीति ही हो जाती है। अतः अलातचक्र के समान क्रियाओं का एकीभूत स्वरूप बुद्धि में कल्पित होकर बनता है।

13. वा. प., 3.8.4-8

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

यथा च भागाः पचतेरूदकासेचनादयः।
उदकासेचनादीनां ज्ञेया भागास्तथापरे।।
यश्चापकर्षपर्यन्तमनुप्राप्तः प्रतीयते।
तत्रैकस्मिन् क्रियाशब्दः केवले न प्रयुज्यते।।
पूर्वोत्तरैस्तदा भागैः समवस्थापितक्रमः।
एकः सोप्यसदध्यासादाख्यातैरभिधीयते।।[14]

न क्षणानां पूर्वापरीभावः, अत्यन्तभेदात्। न हि यः पूर्वक्षणः स एव परः सम्पद्यते।.. ......अवयवेषु तु समुदायाध्यासात् तस्य चाभेदात् पूर्वपरीभावो युज्यते।.......अवयवेषु तु समुदायाध्यासात् तस्य चाभेदात् पूर्वपरीभावो युज्यते।........भागशो प्रत्यक्षत्वाच्च न शक्या पिण्डीभूता पाशुराशिवत् क्रिया निदर्शयितुमित्युक्तम्।[15]

अर्थात् जिस प्रकार पचनक्रिया के उदकासेचनादि भाग हैं उसी प्रकार उन भागों के भी अन्य सूक्ष्म–सूक्ष्मतर–सूक्ष्मतम भाग होते हैं। जो भाग अल्पतम परिमाण की सीमा प्राप्त कर लेता है उस एक भागमात्र के अर्थ में **क्रिया** शब्द का प्रयोग नहीं होता है, क्योंकि वह भाग क्रमहीन होने से सिद्धस्वरूप रहता है। परन्तु यदि उस सूक्ष्मतम एक भाग में पूर्वपर भागों को लेकर क्रम स्थापित (कल्पित) कर लिया जाये तो असत् अध्यास के अधीन वह एक भाग भी आख्यात पदों का वाच्यार्थ बन सकता है। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्मतम अंश क्षणरूप होते हैं, जिनमें अत्यन्त पार्थक्य रहने के कारण पौर्वापर्य असम्भव रहता है, क्योंकि जो पूर्व क्षण है वही उत्तर क्षण नहीं हो सकता है। परन्तु अवयवों के समुदायरूप अवयवी का अध्यास अपनाने पर अभेद कल्पित कर पूर्वपरभाव सम्पन्न होता है। अत एव महाभाष्यकार ने क्रिया को परोक्ष माना है, क्योंकि भागशः अप्रत्यक्ष रहने से धूलिराशिवत् पिण्डीभाव के साथ उसका निदर्शन अशक्य है।

(2) काल

तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्।.........कालोपसर्जने च तुल्यम् (अन्यप्रमाणत्वात्, लोकतः सिद्धेः।)[16]

अर्थात् काल (तथा उपसर्जन) का व्याकरण में अनुशासन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि संज्ञा तथा लोकव्यवहार ही उसका प्रमाण है। इससे स्पष्ट है कि भगवान् पाणिनि ने कालत्व को अखण्डोपाधि के रूप में अनिर्वचनीय तथा लौकिक व्युत्पत्तिमात्र से ज्ञातव्य माना है। तद्नुसार प्रश्न उपस्थित किया गया है कि वर्तमान की कोई परिभाषा नहीं बन सकती है, क्योंकि उसका क्षण अज्ञेय होने से अतीतानागतभिन्नमात्र कहा जा सकता है, परन्तु वर्तमान की विभाजक रेखा के बिना अतीत तथा अनागत का भी लक्षण नहीं हो सकता है। अतः काल सर्वथा अपरिभाष्य है। पुनः क्रियाफल के आधार पर समाधान दिया गया है।......(1) फल तथा क्रिया

---

14. वही 3.8.9-11

15. हेलाराज

16. पा. सू. 1.2.53-57

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

दोनों की सिद्ध दशा भूत, (2) दोनों की अनागतावस्था भविष्य तथा (3) क्रिया के रहते हुए फल की अनागतावस्था वर्तमान है। क्रिया को ही कालव्यवहार का प्रयोजक मानकर कहा गया है......

येन मूर्तीनामुपचयाश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते तं कालमित्याहुः।
तस्यैव कयाचित् क्रियया युक्तस्याहरिति रात्रिरिति च भवति।

कया क्रियया? आदित्यगत्या। तयैवासकृदावत्तया मास इति संवत्सर इति च भवति।[17]

अर्थात् मूर्त द्रव्यों में जिसके अधीन उपचय तथा अपचय लक्षित होते हैं उस पदार्थ का नाम काल है। किसी क्रिया से युक्त उसी काल की दिन तथा रात्रि संज्ञा बनती है। यह क्रिया सूर्य की गति है। अहोरात्ररूप क्रिया पुनः पुनः आवृत्ति लेती है, जिससे मास तथा वर्ष बनते हैं। क्रिया से पृथक् काल को परिभाष्य नहीं माना जा सकता है........

दिक् साधनं क्रिया काल इति वस्त्वभिधायिनः।
शक्तिरूपपदार्थानामत्यन्तमनवस्थिताः।।[18]

अर्थात् दिक्, साधन (कारक), क्रिया तथा काल पदार्थों के शक्तिरूप में वस्तुवाचक होने से वे अत्यन्त अनवस्थित हैं। इनका व्यवस्थित लक्षण इसलिए कठिन है कि इन शब्दों की वाचकता शक्ति में प्रतिष्ठित है.........ये सभी ब्रह्म की शक्ति होने से अनिर्वचनीय रहते हैं। भर्तृहरि ने इसका उत्तर देते हुए कहा है......

कार्योत्पत्तौ समर्थ वा स्वेन धर्मेण तद् यथा।
आत्मतत्त्वेन गृह्येत सा चास्मिन् वर्तमानता।।[19]

अर्थात् क्रम क्रिया का आत्मस्वरूप है। उस क्रमरूप धर्मद्वारा उतना क्रियासमूह एक मानकर गृहीत होता है जितना फलरूप कार्य की उत्पत्ति में समर्थ पाया जाता है। यह प्रारब्धपरिसमाप्तत्व ही क्रिया–समूह की वर्तमानता है जिसमें सदसत् की एकता कल्पित रहती है। हेलाराज ने स्पष्ट किया है.......

1. इहैकत्वं क्रियायाः क्षणसमुदायरूपायाः कल्पितम्। तथाहि एकफलोद्देशेन प्रवर्तमाना नियतपौर्वापर्याः क्षणाः क्रियेति फलाभेदादसावेका। एवं यथायथं फलभेदेन भिद्यते क्रिया।

अर्थात् काल के स्वरूप में क्षणसमुदायरूप क्रिया का एकत्व कल्पित है। एक ही फलरूप उद्देश्य के लिए प्रवृत्त होते हुए तथा निश्चित पूर्वापरभाव से विशिष्ट क्षणों को क्रिया कहते हैं, जिसका एकत्व फल के अभेद से कल्पित होता है और यथापेक्ष फलभेद होने पर क्रिया की भिन्नता पायी जाती है। प्रश्न सदसत् क्षणों की एकता को लेकर है जिसका समाधान

17. म. भा., 2.2.5
18. वा. प., 3.6.1
19. वही, 3.9.89

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

किया गया है–

2. **अत्र च सदसत्त्वेपि क्षणानां वर्तमानतोपपद्यत एव। न हि सत्त्वं वर्तमानतालक्षणं किन्तु प्रारब्धापरिसमाप्तत्वम्। तच्च यावतः क्षणसमूहस्य फलावधिप्रवृत्तिस्तावतः प्राक् फलोपजनादभेदेनाध्यवसितस्यास्त्येव। कार्योत्पत्तौ च स एव समर्थः।**

अर्थात् यद्यपि अतीतानागत क्षण असत् तथा प्रत्युत्पन्न क्षण ही सत् है तथापि वर्तमानकालता उत्पन्न ही रहती है, क्योंकि सत् होना वर्तमानता का लक्षण नहीं है, किन्तु प्रारब्धापरिसमाप्तत्व लक्षण है– एक फल की उद्देश्यता से प्रारम्भ होने वाले क्षणों की असमाप्ति वर्तमानता है। फल पर्यन्त जितने क्षणसमूह की प्रवृत्ति होती है, फलनिष्पत्ति से पूर्व उतने क्षणसमूह का अध्यस्त अभेद रहता ही है, क्योंकि वही क्षणसमूह फलरूप कार्य की उत्पत्ति में समर्थ पाया जाता है– कार्यानुपपत्ति से कारणकल्पना की जाती है।

3. **स च मनोव्यापारपूर्वभावी (ज्ञानेच्छाप्रयत्ना मनोव्यापाराः) कायव्यापारपर्यन्तः साधनसंरम्भफलानुमेयः। तत्र च स्वेन क्रमात्मकेन धर्मेण युक्तं तत् समूहरूपं यदात्मतत्त्वेनात्मीयेन विद्यमानेन स्वभावेन गृह्यते तदा तस्यैवंविधस्य येयं विद्यमानता सा वर्तमानता।**

अर्थात् ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न मनोव्यापार हैं जिनसे लेकर कायिक चेष्टा पर्यन्त क्षणसमूह फल से अनुमेय रहता है और फल का अनुमान कारकीय व्यापारों से किया जाता है– कारकों के विलक्षण व्यापारों से जिस फल की भावी उत्पत्ति का अनुमान होता है उस फल से क्षणसमूह का अनुमितानुमान हो जाता है। वह समूह अपने क्रमिक स्वरूप से युक्त रहता हुआ जब अपने विद्यमान स्वभाव से– प्रारब्धापरिसमाप्तत्व से...........गृहीत होता है तब उस प्रकार के समूह की अध्यस्त विद्यमानता ही वर्तमानता है।

4. **अयमर्थः। नियतपौर्वापर्यः समूहस्तावत् क्रमिकः। तस्य च सदसद्रूपकत्वेपि फलावधि परस्परमध्यस्तक्रमः सकलः सन्निहित एवैकोपि क्षणो वर्तमान–तामनुभवति। यद्यपि च नासावेकः क्रमिक इति न क्रिया तथाप्यपरक्षणगतः क्रमस्तत्रानुभववासनया निश्चीयत एवेति न कश्चिद् दोषः।**

अर्थात् उक्त तथ्यों का निष्कर्ष यह है कि क्षणसमूह का पौर्वापर्य नियत रहता है, अतः उसकी क्रमिकता निश्चित है। यद्यपि वह क्रमभावी समूह सदसत्स्वरूप है तथापि फल पर्यन्त परस्पर क्रम के अध्यास से वह सकल सन्निहित होता है, जिससे प्रत्येक क्षण अध्यारोपित वर्तमानता का अनुभव करता है। यद्यपि क्रमिक होने से वह एक नहीं है, अतः मुख्यवृत्ति से क्रिया भी नहीं है, तथापि अनुभवजनित वासना से अन्य क्षणों का क्रम एक साथ निश्चित होता है। इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है। प्रकारान्तर से–

क्रियाप्रबन्धरूपं यददध्यात्मं विनिगृह्यते।
संक्रान्तबिम्बमेकत्र तामाहुर्वर्तमानताम्।।[20]

---

20. वा. प., 3.9.90

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

पूर्वं क्षणसमूहस्यैकत्वमेकफलोद्देशेन समर्थितम्। इदानीं तु संकलनाबुद्ध्युपारूढस्य बुद्ध्याकाररूपत्वेन भाविकत्वमेकत्वमुच्यते।

–हेलाराज

अर्थात् पूर्व कारिका में एक फल के उद्देश्य से क्षणसमूह के एकत्व का समर्थन किया गया है। यहाँ पक्षान्तर उपस्थापित है कि संकलनात्मक बुद्धि में उपनीत क्षणसमूह बुद्धिवृत्ति का जो आकार ग्रहण करता है वही एकत्व है। बुद्धि में (अध्यात्म) जो क्रिया का क्रमिक सन्तान संकलित रूप से ग्राह्य बनता है उसका बिम्ब एक ही बुद्धि (संकलनात्मक वृत्ति) में प्रतिबिम्बित होकर एकत्व प्राप्त करता है। इसी को वर्तमानता कहा गया है।

काल की दो शक्तियों– प्रतिबन्ध तथा अनुज्ञा–को व्याकरण में स्थापित किया गया है–

द्वाभ्यां स किल शक्तिभ्यां भावानां वरणात्मकः।
शक्तिस्तु वर्तमानाख्या भावरूपप्रकाशिनी।।[21]

अर्थात् काल अपनी दो शक्तियों– अतीत तथा अनागत– से भावों का आवरणकारी होता है और उसकी वर्तमानशक्ति भावरूप को प्रकाशित करती है। प्रथम को तिरोभाव और द्वितीय को आविर्भाव कहा जाता है–

अनागता जन्मशक्तेः शक्तिरप्रतिबन्धिका।
अतीताख्या तु या शक्तिस्तया जन्म विरूध्यते।[22]

अर्थात् काल की अनागतशक्ति जन्मशक्ति में प्रतिबन्धक नहीं बनती है, किन्तु अतीतशक्ति द्वारा जन्म का विरोध होता है। इस प्रकार तीन अध्वा बनते हैं.....

तमः प्रकाशवत् त्वेते त्रयोध्वानो व्यवस्थिताः।
अक्रमास्तेषु भावानां क्रमः समुपलभ्यते।।[23]

अर्थात् अध्वा के सदृश होने से उपचारतः तीन कालशक्तियों को तीन अध्वा कहा जाता है। ये तम तथा प्रकाश के समान स्थित हैं– वर्तमान प्रकाशरूप तथा शेष दो तमोरूप हैं। इन अध्वाओं में स्वरूपतः कोई क्रम नहीं होता है, किन्तु उनके द्वारा पदार्थों में क्रम की उपलब्धि होती है।

काल जब प्रतिबन्ध लाता है तब सत्ता के दो अतीतानागत भेद बनते हैं, जिन्हें क्रमशः प्रध्वंस तथा प्रागभाव कहा जाता है। प्रतिबन्ध न लाकर जब वह कार्य को अनुज्ञा देता है तब उत्पत्ति और और वर्तमान अध्वा को अवसर मिलता है। अभिन्न रहते हुए भी वह औपाधिक भेद ग्रहण करता है–

---

21. वही, 3.9.50
22. वही, 3.9.51
23. वही, 3.9.52

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

नैको न चाप्यनेकोस्ति न शुक्लो नापि वा सितः।
द्रव्यात्मा स तु संसर्गादेवंरूपः प्रकाशते।।[24]

अर्थात् काल एक अथवा अनेक नहीं है। वह शुक्ल अथवा कृष्ण भी नहीं है, किन्तु वह व्यवहारातीत द्रव्यस्वरूप है, तथापि एक, अनेक शुक्ल और कृष्ण के संसर्ग से विविधता में भासित होता है। उत्पत्ति, स्थिति और संहार के समान काल ही अपने संसर्ग से अन्य पदार्थों में गुणाधान करता है।

x x x

व्याकरण–दर्शन में काल को क्रियासापेक्ष माना गया है, परन्तु व्यवहार में काल को क्रिया का भेदक या विशेषण मानकर कहा गया है–

क्रियाभेदाय कालस्तु संख्या सर्वस्य भेदिका।

इस प्रकार काल की वास्तविक स्थिति को अमान्य करते हुए भी लोक में काल के बिना क्रियाओं में भूत, भविष्य तथा वर्तमान का व्यवहार असम्भव हो जायेगा।

■ ■ ■

---

24. वही, 3.9.7

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

सत्ता महाजाति

न्याय–वैशेषिक में सत्ता पराजाति को कहते हैं जबकि वैयाकरणदर्शन में उसे महाजाति कहा जाता है। निरुक्ति की दृष्टि से **सतो भावः सत्ता** होगा। अर्थात् सत् का प्रवृत्ति–निमित्त सत्ता है। किसी पदार्थ को सत् या विद्यमान कहने का आधारभूत तत्त्व सत्ता है।

व्याकरण–दर्शन

पाणिनि ने कहीं भी सत्ता शब्द का प्रयोग नहीं किया है, परन्तु उन्होंने **आस्तिक** शब्द की निष्पत्ति **अस्ति** शब्द से की है। **महाभाष्य** में कहा गया है कि अस्तिबुद्धि रखने वाला आस्तिक होता है[1]। **कैयट** ने **प्रदीप** में स्पष्ट किया है कि आस्तिक वह है जो परलोक की सत्ता मानता है। यही तथ्य **वामन** ने **काशिका** में स्वीकार किया है। परलोक की सत्ता सामान्य सत्ता की मान्यता पर प्रतिष्ठित है। अतः **पाणिनि** का यह भी अभिप्राय लिया जा सकता है कि जो व्यक्ति सब कुछ क्षणिक न मानकर किसी निर्विकार, कूटस्थ सत्ता पर आस्था अथवा मति रखता है वह आस्तिक है। परलोक भी इसी कूटस्थ सत्ता की अवधारणा पर प्रतिष्ठित है।

जहाँ तक उपलब्ध सामग्री का आकलन सम्भाव्य है, सत्ता पर परिनिष्ठित दार्शनिक विचार दूसरी शताब्दी ई. पू. से आरम्भ होता है। महाभाष्यकार ने भूत और भविष्यत् की सत्ता से पृथक् मान्य नहीं किया है[2]। **भर्तृहरि** ने सम्प्रति–सत्ता के विपरीत भूत और भविष्यत् की सत्ता को उपचारसत्ता बताया है और कहा है–

व्यपदेशे पदार्थानामन्या सत्तौपचारिकी।
सर्वावस्थासु सर्वेषामात्मरूपस्य दर्शिका।।[3]

अर्थात् पदों से अर्थों के बोध में सम्प्रति–सत्ता ही बुद्धि में अर्थाकार लेकर उपचार सत्ता का विवर्त लेती है, जिससे अतीत और अनागत अवस्थाओं में अर्थ का प्रतिभास होता है। सम्प्रति–सत्ता सदैव वर्तमान रूप में व्याप्त रहती है। **हेलाराज** ने **भर्तृहरि** का आशय स्पष्ट करते हुए बताया है कि वाह्यरूप से असत् पदार्थ में भी वासना द्वारा बुद्धि अर्थाकार ग्रहण करती है जैसा कि अलातचक्र, शशविषाण आदि में देखा जाता है। अत एव **पतञ्जलि** ने कहा है–

अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरूषोऽप्रयुज्यमानोप्यस्ति।।[4]

---

1. म. भा., पा.सू., 4.4.60
2. वही, 5.2.94
3. वा. प., 3.3.39
4. म. भा., पा.सू., 2.3.1

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

अर्थात् वर्तमानकालिक प्रथमपुरूषीय अस्ति बिना प्रयोग के भी सर्वत्र व्याप्त रहता है। आशय यह कि अतीत और अनागत के प्रयोग उसी सम्प्रति–सत्ता के उच्छलनमात्र हैं। अत एव भर्तृहरि ने आगे स्पष्ट किया है कि सत्ता में ही शब्द की नित्य व्यवस्था रहती है और यह भावात्मक तथ अभावात्मक सभी तत्त्वों के साथ सम्बन्धलाभ करती है[5]। **भर्तृहरि** ने सत्ता को ही मूल तत्त्व घोषित किया है–

सत्ता स्वशक्तियोगेन सर्वरूपा व्यवस्थिता।
साध्या च साधनं चैव फलं भोक्ता फलस्य च।।[6]

अर्थात् सत्ता सर्वरूप तत्त्व है। अपनी शक्ति के योग से वही साध्य, साधन, फल और शक्ति का रूप ग्रहण करती है। इसी आधार पर हेलाराज ने उद्धृत किया है–

सतां च न निषेधोस्ति सोऽसत्सु च न विद्यते।
जगत्यनेन न्यायेन नञर्थः प्रलयं गतः।।[7]

अर्थात् सत् (वर्तमान) वस्तुओं का ही निषेध होता है असत् वस्तुओं में निषेध असम्भव है। इस प्रकार निषेध भी सत्ता में ही प्रलीन हो जाता है। कर्त्ता, क्रिया और कर्म सभी उपचार–सत्ता के अधीन होते हैं।[8]

एतां सत्तां पदार्थो हि न कश्चिदतिवर्तते।
सा च सम्प्रतिसत्तायाः पृथग् भाष्ये निदर्शिता।।[9]

अर्थात् कोई पदार्थ इस उपचार–सत्ता का अतिक्रमण नहीं करता है। अत एव भाष्यकार ने इसे सम्प्रति–सत्ता से पृथक् निरूपित किया है। उपचार–सत्ता सम्प्रति–सत्ता का ही विवर्त्त है। व्याकरण–दर्शन के अनुसार भाव, अभाव, जन्म, विपरिणाम आदि सभी अवस्थायें इसी सत्ता के विवर्त्त हैं। सत्ता ही सत्य तत्त्व है–

यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं वा विकल्पितम्।
तस्यैवार्थस्य सत्यत्वं श्रितास्त्रय्यन्तवेदिनः।।[10]

अर्थात् जिस अद्वैत तत्त्व में द्रष्टा, दृश्य और दर्शन विकल्प लेते हैं, वेदान्तज्ञ मनीषी उसी अर्थ को सत्य मानते हैं। इस प्रकार यह सत्ता–तत्त्व ही वाग्ब्रह्म है, समस्त प्रपञ्च उसी का विवर्त्त है। वही आत्मा है जो अपनी माया–शक्ति से प्रपञ्च का रूप लेता है[11]। सत्ता ही महाजाति है। वही परम सत्य है–

---

5. वा. प., 3.3.40-41
6. वही, 3.8.36
7. वही, 3.3.42
8. वही, 3.3.45-46
9. वही, 3.3.51
10. वही, 3.3.72
11. वही, 1.15.23

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

सत्तासत्यौ तु यौ भावौ प्रतिभावं व्यवस्थितौ।
सत्यं यत् तत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयः स्मृताः।।[12]

अर्थात् प्रत्येक पदार्थ में सत्य अथवा परिवर्तनहीन और असत्य अथवा परिवर्तनशील भाग रहते हैं। इन दोनों में सत्यभाग जाति है और असत्य–भाग व्यक्ति।

सम्बन्धिभेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः।।[13]

अर्थात् सम्बन्धी पदार्थों के भिन्न होने से यह सत्ता ही भेद ग्रहण करके गोत्वादि जातियों का व्यवहार प्राप्त करती है। वह सभी शब्दों का अर्थ है और यही सत्ता महान् आत्मा है।[14] क्रम प्राप्त करके वही सत्ता क्रिया नाम पाती है और क्रमरूप के संहार में उसी को द्रव्य कहा जाता है[15]। वही सत्ता भावविकार ग्रहण करती है[16]। और इसी के तिरोभाव को अभाव कहते हैं[17]।

आश्रयः स्वात्ममात्रा वा भावा वा व्यतिरेकिणः।
स्वशक्तयो वा सत्ताया भेददर्शनहेतवः।।[18]

अर्थात् सत्ता एक है, परन्तु उसमें व्यावहारिक भेद अविद्या–कल्पित हैं। हेलाराज के अनुसार यही सत्ता परब्रह्म है, जिसमें चार प्रकार के भेदों की प्रतीति होती है– (1) सत्ता के व्यञ्जक पदार्थ गो, घट इत्यादि होते हैं। उन आश्रयों के भेद से गोत्त्व, घटत्त्वादि विविध जातियों की कल्पना होती है। जैसे, एक ही मुख दर्पण, जल, तेल, खड्ग आदि में अनेक प्रकार से भासित होता है। (2) दूसरे प्रकार से कहा जायेगा कि सत्ता की अपनी मात्राएँ ही गोत्त्वादि रूपों में विवर्त्त पाती हैं। जैसे, एक ही व्यक्ति उस अवस्था में कर्त्ता और कर्म दोनों ही रूप ले लेता है जब कहा जाता है कि वह पुरुष स्वयं ही अपने को मारता है। (3) तीसरी व्याख्या यह है कि जिस प्रकार एक ही दिन के क्षण आदि भेद पाये जाते हैं, उसी प्रकार विविध पदार्थ एक ही सत्ता में भिन्न–भिन्न जातियों का प्रतिभास देते हैं। (4) सब प्रकार से सिद्धान्त यह है कि सत्ता की अपनी अविद्या–शक्तियाँ ही विश्वप्रपञ्च की विविधता का प्रतिभास देती हैं। जिस प्रकार चिन्तामणि प्रार्थियों की कामना के अनुसार नाना रूप लेती है उसी प्रकार सत्तारूप ब्रह्म अपनी अनन्त शक्तियों से नाना रूपों में प्रकाशित होता है।

कैयट ने इस सत्ता को महासामान्य कहा है[19]। व्याकरण–दर्शन की मूल मान्यता यही

12. वही, 3.1.32
13. वही, 3.1.33
14. वही, 3.1.34
15. वही, 3.1.35
16. वही, 3.1.36
17. वही, 3.1.38
18. वही, 3.1.40
19. म. भा., 1.1.1 प्रदीप

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

है कि सत्ता ही शब्दब्रह्मरूप आत्मा है और जगत् उसी का विवर्त्त है। यही महाजाति है, अन्य जातियाँ उसी के विवर्त्त हैं। वाग्ब्रह्म पर जो कुछ विवेच्य बनता है वह सब सत्ता का विषय है।

वैशेषिक–दर्शन

वैशेषिक–दर्शन में सत्ता वह परा जाति है जिसके कारण द्रव्य, गुण और कर्म में **सत्** की प्रतीति होती है[20]। तात्पर्य यह कि इन्हीं तीन पदार्थों में **अस्ति**–प्रतीति होती है। अतः सत्ता एक पृथक् पदार्थ है, जो द्रव्य, गुण, कर्म में रहता हुआ भी उन तीनों से भिन्न है[21]। **वैशेषिकसूत्र**[22] में सत्ता पर विशेष विचार हुआ है। इस सत्ता का बोध अनुमान से होता है। यह भावरूप पदार्थ है। यद्यपि सूत्रकार ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि वह जाति में ही अन्तर्भूत है अथवा उससे पृथक्, तथापि आरम्भ में छः ही भाव–पदार्थ परिगणित किये गये हैं, अतः सत्ता को जाति–विशेष ही माना गया है[23]। शङ्करमिश्र ने स्पष्ट किया है कि सत्ता का साधक अनुमान प्रमाण दो प्रकार से निर्धारित होता है। एक तो यह कि द्रव्यादि त्रिक में सत् का ज्ञान होता है, दूसरे उनके लिए सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है। सत् यहाँ होने वाले का अर्थ देता है[24]।

प्रशस्तपाद ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि सामान्य अथवा जाति ही सत्ता है–

सामान्यं द्विविधं परमपरं चानुवृत्तिप्रत्ययकारणम्। तत्र परं सत्ता, महाविषयत्वात्। सा चानुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव। द्रव्यत्वाद्यपरम्, अल्पविषयत्वात्। तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामन्यं सद्विशेषाख्यामपि लभते।[25]

अर्थात् सामान्य अथवा जाति के दो भेद हैं– पर और अपर। व्यापक होने के कारण पर–जाति सत्ता है। जाति के दो कार्य होते हैं– अनुवृत्ति और व्यावृत्ति। अनुवृत्ति से वह सभी पिण्डों अथवा पदार्थों में एक अनुगत प्रतीति का कारण होती है, जबकि व्यावृत्ति द्वारा जाति एक पदार्थ को अन्य पदार्थ से पृथक् करती है। सत्ताजाति का कार्य केवल अनुवृत्ति अथवा अनुगत प्रतीति है, व्यावृत्ति अथवा अपोह नहीं, जबकि अपरजाति दोनों प्रतीतियों का कारण है। जैसे, गोत्व अपर जाति है, जो सभी गो–पिण्डों में एकरूप अनुगत प्रतीति का कारण है और साथ ही वह गो को गवेतर से व्यावृत्त भी करती है। सत्ता का कार्य अनुवृत्तिमात्र होने से उसमें अपोहन का कार्य नहीं रहता है।

श्रीधरभट्ट ने उक्त भाष्य की **न्यायकन्दली** में उक्त तथ्यों को विस्तार से समझाया है। उन्होंने प्रश्न उपस्थित किया है कि अनुवृत्ति तो सत्ता का कार्य है ही, क्योंकि उससे द्रव्य, गुण, कर्म में सत् या अस्ति की अनुगत प्रतीति होती है, परन्तु साथ ही वह विशेष और समवाय से

---

20. सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता। वै. सू., 1.2.7
21. वही, 1.2.8
22. वही, 1.2.9-17
23. उपस्कार, 1.2.16
24. वही, 1.2.17
25. प्र. भा., पृ. 29

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

व्यावर्तन अथवा अपोहन भी करती है और तब उसे केवल अनुवृत्तिजनक कैसे माना जा सकता है? **कन्दली**-कार का उत्तर है कि सत्ता अपने आश्रयभूत द्रव्य, गुण और कर्म को अन्यों से अपोहित रखने का कार्य नहीं करती है, उनका अपोहन अथवा व्यावर्तन तो द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व–इन अपर जातियों से ही सम्भाव्य होता है।

कन्दली-कार ने कुछ विद्वानों का यह मत उपस्थापित किया है कि जो वस्तु प्रमाण से प्रतीत होती है उसमें **अस्ति** का व्यवहार होता है। जिस सत्त्व की प्रमाण से प्रतीति नहीं होती है उसके लिए **नास्ति** का व्यवहार चलता है। अतः अस्ति–व्यवहार के प्रमाण से ही सत्ता प्रमाणित होती है। इस मत की आलोचना करते हुए **श्रीधरभट्ट** ने कहा है कि यदि ऐसा मान लिया जाये तो असंख्य वस्तुयें प्रमाणगम्य न होने की स्थिति में गधे की सींग के समान असत् कही जायेगीं। अतः प्रमाणगम्यता सत्ता की कसौटी नहीं हो सकती है। जिस वस्तु को हम देखते नहीं है उसकी भी सत्ता होती है। यदि कहा जाये कि प्रमाण के योग्य वस्तुरूप को सत्ता कहते हैं, गधे की सींग आदि निःस्वभाव है, अतः उनमें सत्ता का समवाय–सम्बन्ध नहीं हो सकता है तो प्रमाण–योग्यता ही सत्ता है और तब सत्ता को पृथक् तत्त्व मानना ही व्यर्थ है।

कुछ विद्वान् अर्थक्रियाकारिता को सत्ता मानते हैं। **कन्दली-कार** ने इस मत का भी खण्डन किया है, क्योंकि अर्थक्रिया के प्रमाणित न होने पर सत्ता भी प्रमाणित नहीं हो सकती है।

वैयाकरणों की सत्ता ऐसी महाजाति है जो विश्वविवर्त की प्रकृति है। अनुवृत्ति और व्यावृत्ति उसके कार्य नहीं हैं। इन कार्यों को उपचार–सत्ता सम्पादित करती है, जब वह द्रव्यत्व, गोत्व आदि के विविध विवर्त लेती है। इसके विपरीत वैशेषिकों की सत्ता व्यावहारिक जाति से भिन्न नहीं है। वह अनुवृत्तिजनक तो है किन्तु व्यावृत्तिजनक नहीं। वह किसी पदार्थ का मूल कारण भी नहीं है। वह तो निर्विकार नित्य तत्त्व है। उसका कार्य इतना ही है कि द्रव्य, गुण और कर्म में अस्तित्व की अनुगत प्रतीति हो।

न्यायदर्शन

प्राचीन–न्याय में जाति के अन्तर्गत सत्ता पर कोई विचार नहीं हुआ है। **जयन्त भट्ट** ने **न्यायमञ्जरी**[26] में **श्लोकवार्तिक**[27] के उद्धरण के साथ इतना ही कहा है कि सत्ता आदि भिन्न जाति नहीं है जिससे यही सूचित होता है कि नैयायिकों ने मूल रूप से सत्ता को विवेच्य नहीं बनाया है। परन्तु नव्यन्याय में सत्ता का विवेचन हुआ है। **विश्वनाथ पञ्चानन** ने **सिद्धान्तमुक्तावली** में स्पष्ट कहा है–

सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परं चापरमेव च।
द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते।।[28]

अर्थात् पर और अपर दो प्रकार का सामान्य होता है। द्रव्य, गुण और कर्म में एक साथ

26. पृ. 287

27. आकृतिवाद, 24

28. कारिका, 8

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

रहने वाली परजाति का नाम सत्ता है। सत्ता परात्पर जाति है, क्योंकि अन्य सभी जातियों की अपेक्षा वह व्यापक है। उसकी अपेक्षा में सभी जातियाँ अपर–जातियाँ हैं। इसकी **दिनकरी**टीका में नव्य–नैयायिकों का एक मत दिया गया है कि सभी भाव–पदार्थ सत्प्रतीति के विषय होते हैं। यह सत्प्रतीति द्रव्य, गुण और कर्म तक सीमित नहीं है, प्रत्युत सामान्य, विशेष और समवाय में भी होती है। अतः अस्ति–व्यवहार के भिन्न सत्ता नाम की कोई जाति नहीं हो सकती है। **रामरूद्र** ने **दिनकरी** की टीका **(रामरूद्री)** में स्पष्ट करते हुए कहा है कि अस्ति–प्रतीति तो अभाव की भी होती है। अतः व्यावहारिक सत्ता की व्याप्ति तीन पदार्थों तक ही मानकर सत्ता की स्थापना करने वाला वैशेषिक सिद्धान्त सर्वथा अयुक्त है।

दिनकरी में ही इस मत का विरोध करते हुए सत्ता जाति को पुनः स्थापित किया गया है। उन्होंने ध्वंस की कारणता के आधार पर प्रमाणित किया है कि जिस पदार्थ में ध्वंस की उत्पत्ति होती है उसी पदार्थ में सत् का व्यवहार चलता है। दूसरे प्रकार से कह सकते हैं कि जन्यता के आधार पर सत्ता–जाति सिद्ध है। तात्पर्य यह कि उत्पत्तिनाशशील पदार्थों में ही सत्ता की प्रतीति होती है, परन्तु उसकी व्याप्ति आकाशादि नित्य तत्त्वों में भी मान्य होनी चाहिए। **रामरूद्र** ने स्पष्ट किया है कि ध्वंस और कार्यता के आधार पर सत्ता को मान लेने पर नित्य द्रव्यों में सत्ता की व्याप्ति तर्कसंगत नहीं रह पाती है। ऐसी स्थिति में नव्य–नैयायिक सत्ता के प्रति अधिक उत्साही दिखायी नहीं पड़ते हैं। यही कारण है कि **अन्नभट्ट** ने सामान्य के पर और अपर भेद करके छोड़ दिया है। **दीपिका** में विस्तार न देकर उन्होंने केवल पर–सामान्य को सत्ता नाम से अभिहित किया है।

वेदान्त (अद्वैत)–दर्शन

अद्वैतवेदान्त में सत्ता और ब्रह्म को एक बताया गया है। आचार्य **रामाद्वय** ने मीमांसकों की इस मान्यता का खण्डन किया है कि सत्ता जाति नहीं है। उनका कहना है कि सत्ता को जाति मानने में कोई जातिबाधक नहीं है। द्रव्य, गुण और कर्म अनेक व्यक्ति हैं, अतः व्यक्ति का अभेद नहीं है। तुल्यत्व भी नहीं है, क्योंकि सत्ता की अपेक्षा द्रव्यत्व आदि अपर जातियाँ न्यून हैं। इसी प्रकार संकर और अनवस्था दोष भी नहीं है। पाचकत्व को जाति की नित्यता जिस प्रकार व्याहत होती है उस प्रकार सत्ता को जाति मानने पर स्वरूपहानि नहीं होती है। असम्बन्ध दोष भी नहीं बनता है। ऐसी स्थिति में सत्ता जाति है। यह भी नहीं कह सकते हैं कि उसमें कोई प्रमाण नहीं है जबकि घट आदि की सत् प्रतीति होती है। सत् शब्द में वर्तमान काल देखकर भ्रम नहीं होना चाहिए। सत्ता के अधीन वर्तमान काल है, सत्ता कालाधीन नहीं है। अतः ब्रह्मरूप सत्ता की व्यापकता अखण्डनीय है[29]।

वेदान्तकौमुदी-कार ने **कुमारिल** का मत दिया है कि अनुवृत्ति और व्यावृत्ति जाति के कार्य हैं। सत्ता द्वारा अनुवृत्ति तो होती है, पर व्यावृत्ति नहीं होती है। इस पर आचार्य का कहना है कि व्यावृत्तिरहित अनुवृत्ति भी मान्य करनी चाहिए। आगे उन्होंने स्पष्ट किया है कि स्वयं–प्रकाश ब्रह्म ही अद्वैत सत्ता है। सत्ता को ब्रह्मरूप बताकर अद्वैतवादी उसे वैशेषिक मत से पृथक् स्थापित कर लेता है। इस प्रकार वेदान्त–सम्मत सत्ता के तीन भेद बन जाते हैं–पारमार्थिक सत्ता, व्यावहारिक सत्ता और प्रतिभासिक सत्ता।

---

29. वे. कौ., पृ. 328-34

CC-0. AkhilBharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

ब्रह्मरूप सत्ता ही पारमार्थिक है। द्वैतमय जगत् या प्रपञ्च अविद्या की क्रीडा है। उसी को व्यावहारिक सत्ता कहते हैं। **मण्डन मिश्र** ने कहा है–

ब्रह्मणो न सर्वात्मता, सर्वं तु ब्रह्मात्मकम्, ब्रह्मरूपेण रूपवत्।[30]

अर्थात् यह नहीं कहना चाहिए कि ब्रह्म सर्वरूप है, अपितु कहना चाहिए कि सब कुछ ब्रह्मरूप है, क्योंकि ब्रह्मरूप से ही सबकी रूपवत्ता है। अतः प्रपञ्चशून्यता को परमार्थ नहीं कहते हैं। इस मान्यता के अनुसार ही गौडपाद का कहना है–

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।।[31]

शाङ्करभाष्य के अनुसार आशय यह है कि प्रपञ्च यदि होता तो सत्य होता। वह तो रज्जु में सर्प के समान कल्पित है। प्रपञ्चरूप द्वैत मायामात्र है, परमार्थ तो अद्वैत है। अतः कोई प्रपञ्च न प्रवृत्त होता है, न निवृत्त। यहाँ **शङ्कर** ने व्यावहारिक सत्ता की तुलना में प्रतिभासिक सत्ता को लिया है। ऐसा ही **गौडपाद** में भी देखा जाता है–

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः।।[32]

अर्थात् स्वप्न, इन्द्रजाल तथा गन्धर्वनगर जिस प्रकार देखते ही देखते विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार, वेदान्तशास्त्रों में ज्ञानियों द्वारा यह विश्व देखा जाता है। चौतीसवीं कारिका में **शङ्कराचार्य** ने (भाष्य में) परमार्थ ब्रह्म में व्यावहारिक जगत् को उसी प्रकार मान्य किया है जिस प्रकार रज्जु में सर्प। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म की ही अधिष्ठानता में व्यावहारिक सत्ता दृश्य बनती है जबकि प्रातिभासिक सत्ता का अधिष्ठान व्यावहारिक सत्ता है। इस तथ्य को कार्यरूप जगत् और कारणरूप ब्रह्म की व्याख्या में **शङ्कराचार्य** ने अन्यत्र भी स्पष्ट किया है[33]।

दोनों प्रकार की सत्ताओं में विषयों के स्वरूप का प्रतिभास ही होता है, जिसका कारण अविद्या है और ज्ञान से ही उसकी निवृत्ति होती है[34]। अविद्या के हटने से जब पारमार्थिक सत्ता पर से भ्रम हटता है तब प्रपञ्च का बोध होता है जिससे व्यवहारसत्ता परमार्थसत्तामात्र बचती है। इसी प्रकार दृष्टिदोष आदि के हटने पर प्रातिभासिक सत्ता भी व्यावहारिक सत्ता से भिन्न नहीं रह जाती है[35]। **रामाद्वयाचार्य** ने **वाचस्पति** का उल्लेख करते हुए बताया है कि ब्रह्म की स्वयंप्रकाशता ही सत्ता है। व्यवहार–सत्ता में भाव और अभाव दोनों की प्रतीति अविद्याजनित है[36]।

---

30. ब्र. सि., पृ. 20
31. मां.का, 1.17
32. वही, 2.31
33. ब्र.सू., 2.1.14
34. पञ्चपादिकाविवरण, पृ. 97
35. वे. कौ., पृ. 174-75
36. वही, पृ. 508

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

(2)

सम्प्रति–सत्ता

'सम्प्रतिसत्ता' उस वर्तमानतारूप व्यापक सत्ता का अर्थ देने वाला शब्द है जिसमें त्रिकालभेद नहीं रहते हैं। उपचारसत्ता में कालभेद रहते हैं, किन्तु सभी कालों में अनुस्यूत महाजाति को सम्प्रतिसत्ता नाम देते हुए महाभाष्यकार ने कहा है–

सम्प्रतिसत्तायां यथा स्याद् भूतभविष्यत्सत्तायां मा भूत्।[37]

अर्थात् त्रिकालसत्ता सम्प्रतिसत्ता है जो भूतसत्ता तथा भविष्यत्सत्ता से भिन्न है। प्राकरणिक तात्पर्य यह है कि सम्प्रतिसत्ता सभी कालों की उपचारसत्ता (व्यवहारसत्ता) में अनुस्यूत रहकर वर्तमानता का बोध कराती है। अत एव–

यत्रान्यत् क्रियापदं न श्रूयते तत्रास्तिर्भवन्तीपरः।[38]

अर्थात् जहाँ क्रियापद प्रयोग में नहीं लाया जाता वहाँ वर्तमानकालिक 'अस्ति' का स्वतः बोध होता है।

तात्पर्य यह कि सभी कालों (अध्वाओं) में विभक्त पदार्थ सत्तारूढ़ से बुद्धिस्थ रहकर साम्प्रतिक भास देते हैं। अतीत तथा अनागत की भी बुद्धिसत्ख्याति वर्तमानरूप से ही होती है। यही ब्रह्म है जिसके द्वारा क्रमरूपता ग्रहण करने पर विविधता स्वरूप लेती है–

आत्मभूतः क्रमोऽप्यस्या यत्रेदं कालदर्शनम्।
पौर्वापर्यादिरूपेण प्रविभक्तमिव स्थितम्।।[39]

अर्थात् जिस क्रमरूपता में काल की प्रतीति होती है वह भी इस सत्ता का स्वरूप है। उसी में कालतत्त्व विभक्त सा होकर पौर्वापर्यादि रूप से स्थिर होता है।

सारांशतः कालभेद उपचारसत्ता में बनता है और वह सम्प्रतिसत्ता में आविर्भाव लेती है। सम्प्रतिसत्ता ही गोत्वादि जातियों, क्रियाओं, मूर्तियों तथा कालादि भेदों के विवर्त लेती है। यह महाजाति ही ब्रह्म है।

x x x

(3)

उपचारसत्ता

सम्प्रतिसत्ता में आविर्भाव लेने वाली व्यावहारिक सत्ता को उपचारसत्ता या औपचारिकी

---

37. म. भा., पा सू., 5.2.94
38. वही, पा. सू., 2.3.1
39. वा. प., 3.1.37

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

सत्ता कहा गया है, जो व्याकरणदर्शन के अद्वैतवाद में प्रतिष्ठित है–

व्यपदेशे पदार्थनामन्या सत्तौपचारिकी।
सर्वावस्थासु सर्वेषामात्मरूपस्य दर्शिका।।[40]

अर्थात् पदार्थों के शब्दोल्लेखी व्यवहार में सम्प्रतिसत्ता से भिन्न उपचारसत्ता होती है, जो विविध अवस्थाओं में विभिन्न पदार्थों का स्वरूप प्रकट करती है। वाह्य अर्थों की सत्ता से भिन्न यह सत्ता बुद्धिस्थ रहकर कार्य करती है, यह तथ्य हेलाराज ने स्पष्ट किया है–

बुद्ध्योपचारिता वाह्यार्थसत्ताया ह्यन्या बुद्धिसमारूढ़ार्थाकाररूपा सत्ता। अत एवौपचारिकीयम्। उपचारोध्यारोपः प्रयोजनमस्याः सर्वावस्थासु इति अतीतानागतावस्थास्वपि अर्थरूपं दर्शयति, तद्रूपेण बुद्ध्याकारस्य प्रतिभासनात्।

अर्थात् बुद्धि द्वारा उपचरित तथा वाह्यार्थ की सत्ता से भिन्न रहते हुए जो सत्ता बुद्धि में आरूढ़ अर्थाकार ग्रहण करती है वह उपचारसता है–बाह्य पदार्थ की बुद्धिसत्ख्याति का यह सत्ता ही आधार है। सभी अतीत तथा अनागत अवस्थाओं में अर्थस्वरूप का उपचार (अध्यारोप) इसका प्रयोजन है, अतः यह औपचारिकी कही गयी है। बुद्धिस्थ आकार का प्रतिभास अवस्थाभेद से जो भिन्न रूप लेता है वह इसी का कार्य है। भर्तृहरि ने आगे कहा है–

स्फटिकादि यथा द्रव्यं भिन्नरूपैरुपाश्रयैः।
स्वशक्तियोगात् सम्बन्धं तादरूप्येणोपगच्छति।।
तद्वच्छब्दोपि सत्तायामस्यां पूर्वं व्यवस्थितः।
धर्मैरुपैति सम्बन्धमविरोधिविरोधिभिः।।[41]

अर्थात् जिस प्रकार विविध उपरञ्जकों के साथ सम्बन्ध लेकर स्फटिकादि पारदर्शी द्रव्य अपनी शक्ति से उपरञ्जकाकारता ग्रहण करता है उसी प्रकार उपचारसत्ता में पूर्वोपस्थित शब्द भावरूप अविरोधी तथा अभावरूप विरोधी धर्मों के साथ सम्बन्ध प्राप्त करता है। उपचारसत्ता शब्द की वह शक्ति है, जिसके द्वारा वह विविध सम्बन्ध लेकर विविधता का भास देता है–एक ही शब्द उपचारसत्ता से कालादिभेद ग्रहण करता है।

उपचर्यं तु कर्तारमभिधानप्रवृत्तये।
पुनश्च कर्मभावेन तां क्रियां च तदाश्रयाम्।।
अथोपचारसत्तैवं विधेयास्तत्र लादयः।
जन्मना तु विरोधित्वान्मुख्या सत्ता न विद्यते।।[42]

अर्थात् यह सत्ता शब्द की प्रवृत्ति के प्रयोजन से एक ही पदार्थ को कहीं कर्ता और कहीं कर्म का उपचार देती है, जिससे कारकभेद व्यवहार में आते हैं। कारकों में आश्रित क्रिया

---

40. वा. प., 3.3.39

41. वही, 3.3.40-41

42. वही, 3.3.45-46

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

का उपचार भी लकारव्यवस्था द्वारा उपचारसत्ता का कार्य है। सम्प्रतिसत्ता मुख्यसत्ता है जो जन्मादि विकार नहीं ले सकती है। अतः उपचारसत्ता से ही क्रियाकृत जन्मस्थितिनाश व्यवस्थित हैं–

प्राक् च सत्ताभिसम्बन्धान्मुख्या सत्ता कथं भवेत्।
असंश्च नास्तेः कर्ता स्यादुपचारस्तु पूर्ववत्।।
तस्माद् भिन्नेषु धर्मेषु विरोधिष्वविरोधिनीम्।
विरोधिख्यापनायैव शब्दैस्तैस्तैरुपाश्रिताम्।।
अभिन्नकालामर्थेषु भिन्नकालेष्ववस्थिताम्।
प्रवृत्तिहेतुं सर्वेषां शब्दानामौपचारिकीम्।।
एतां सत्तां पदार्थो हि न कश्चिदतिवर्तते।
सा च सम्प्रतिसत्तायाः पृथग् भाष्ये निदर्शिता।।[43]

तथा हि विद्यमानोपि वर्तमानकालिकोर्थो यावद् बुद्धया नावधृतस्तावदविषयः शब्दानामिति सर्वत्रोपचारसत्तारूढम् एव शब्दार्थ इत्युक्तं भवति। क्रियाकारकभावेनापि चार्थानां निरूपणं बोद्धमेव। तथा हि भाव्यमानत्वादेव क्रिया सम्प्रति नास्ति, तदभावात् तदपेक्षं साधनत्वमपि कुत इति आख्यातशब्दस्य क्रियावाचिनः सुबन्तस्य च कारकवाचिनः सर्वस्यैव बुद्धिपरिगृहीत उपचारसत्तासमाविष्टो वाच्योर्थोवतिष्ठत इति सर्वेषां व्याप्तिसिद्धिः। अभावस्य च ज्ञायमानत्वेन सत्त्वादेतामुपचारसत्तां सर्व एव पदार्थो नातिक्रामतीति सर्वेषामेव तद्विषयत्वादभावादिशब्दानामप्यर्थेन नित्यावियोगः सिद्धः।

हेलाराज

अर्थात् जब तक कोई पदार्थ सत्ता नहीं प्राप्त कर लेता है तब तक मुख्यार्थ में उसकी सत्ता (सम्प्रतिसत्ता) नहीं हो सकती है। उत्पन्नावस्था से पूर्व जब घट है ही नहीं तब घट को जननक्रिया का कर्ता कैसे कहा जा सकता है कि घट बन रहा है। जो अविद्यमान है नास्ति का कर्ता अवश्य हो सकता है। अतः उपचारसत्ता से बुद्धिसत् पदार्थ के जन्मादि की व्याख्या होती है। ऐसी स्थिति में यही सिद्धान्त है कि सभी विरोधी धर्मों में अविरोधशील उपचारसत्ता ही विरोधी अर्थों के प्रतिपादनार्थ विविध शब्दों द्वारा ग्रहण की जाती है। यह सभी शब्दों की प्रवृत्ति का हेतु है, जिसका अतिक्रमण कोई पदार्थ नहीं करता है। महाभाष्य-कार ने सम्प्रतिसत्ता से इस सत्ता को पृथक् निरूपित किया है। इस सन्दर्भ का आशय है कि विद्यमान और वर्तमानकालिक पदार्थ भी जब तक बुद्धि द्वारा अवधारित नहीं होता तब तक शब्दव्यवहार का विषय नहीं हो सकता है। इसी प्रकार क्रियाकारकभावरूप सम्बन्ध से पदार्थों का निरूपण बुद्धि में ही उपचारसत्ता मानकर होता है। तात्पर्य यह है कि क्रिया सदैव साध्य रहती है, जिसकी सम्प्रतिसत्ता असम्भव है। उसकी सत्ता के बिना क्रियासापेक्ष कारकत्व भी नहीं हो सकता है। अतः क्रियावाची आख्यातों तथा कारकवाची नामपदों के वाच्यार्थ बुद्धिगृहीत होकर उपचारसत्ता से ही स्वरूपलाभ करते हैं। इससे अन्वयव्यतिरेकी व्याप्ति अथवा समव्याप्ति बनती है कि

43. वही, 3.3.48-51

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

उपचारसत्ता के होने पर ही बुद्धिस्थ क्रियाकारकसत्ता होती है। अभाव भी ज्ञान में आता हुआ सत्ता का भागी बनता है। अतः सभी पदार्थ उपचारसत्ता से अवियुक्त रहकर ही शब्द व्यवहार तथा प्रतीति में आते हैं।

सम्प्रतिसत्ता कालव्यवहारातीत महाजाति तथा ब्रह्म है। वही मुख्य सत्ता है जो तीनों कालों के ज्ञानों की वर्तमानता में प्रतीत होती है। उपचारसत्ता उसका विवर्त है, जिससे विविध पदार्थ (भाव या अभाव) बुद्धिसत्ख्याति में आकर व्यवहार के भागी बनते हैं।

■ ■ ■

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

CC-0. AkhilBharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy

CC-0. Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow. Digitized by Sri Muthulakshmi Research Academy